एकमाताव्रत

गांधीवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

लेखक :

नरोत्तम प्रसाद नागर

प्रकाशक :

उच्छृङ्खल-प्रकाशन, प्रयाग

१९३९

मूल्य १॥)

मुद्रक—गुरुप्रसाद

कायस्थ पाठशाला प्रेस, व प्रिंटिंग स्कूल, प्रयाग



गांधी जी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा में सोचते हैं। वह समाज या सामाजिक ढाँचे को बदलना नहीं चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावनाओं को नष्ट कर देना चाहते हैं। वह जो सुधार करना चाहते हैं, वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसका मतलब है इन्द्रियों पर और उनकी 'पापमयी' इच्छाओं पर विजय प्राप्त करना। फ़ासिज़्म पर लिखने वाले एक योग्य रोमन कैथोलिक ने।आज़ादी की जो परिभाषा की है, शायद गांधी जी उससे सहमत होंगे। उनकी परिभाषा यह है, 'आज़ादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' दो सौ वर्ष पहले लंदन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे, उनसे यह कितनी मिलती-जुलती है! वे शब्द थे, 'ईसाई धर्म जो आजादी देता है, वह है पाप और शैतान के बन्धनों और मनुष्यों की बुरी कामनाओं, वासनाओं और असाधारण इच्छाओं के जाल से मुक्ति।'

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाए तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे में गांधी जी का जो रुख है, वह भी कुछ समझ में आ सकता है। उनकी राय में 'जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री पुरुष का आपस में सहवास करना पाप है' और 'संतति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायुविक ह्रास होता है...अपने कामों के परिणामों से बचने की कोशिश करना ग़लत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो ज़रूरत से ज्यादा पेट भर लें और फिर कोई टानिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजों से बचने की कोशिश करें। यह तो और भी बुरा है कि कोई शख़्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारों को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे!'

व्यक्तिगत रूप से मैं गांधी जी के इस रुख को बिल्कुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और गांधी जी की बात सही है तो मैं उन पापियों में से हूँ जो नपुंसकता और स्नायुविक ह्रास के किनारे पहुँच चुके हैं। रोमन कैथोलिक लोगों ने भी बड़े ज़ोरों से सन्तति-निग्रह का विरोध किया है, लेकिन वे अपनी दलीलों को उस आखिरी दर्जे तक नहीं ले गए, जिस दर्जे तक गांधी जी ले गए हैं। उसे वे इन्सानी फ़ितरत समझते हैं, उसके साथ उन्होंने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट दे दी है। लेकिन गांधी जी तो अपनी दलील की आख़री सीमा तक पहुँच गए हैं। सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी समय स्त्री पुरुष के प्रसङ्ग को वह ज़रूरी या न्याय्य नहीं समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि स्त्री-पुरुषों में परस्पर एक-दूसरे के प्रति क़ुदरती खिंचाव होता है। उनका कहना है, 'लेकिन मुझ से कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुषों में जो एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है, उसे मैं ध्यान में नहीं रखता। मैं यह मानने से इन्कार

करता हूँ कि जिस आकर्षण की ओर सङ्केत किया गया है, वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जा सकता है और अगर वह ऐसा ही है तो सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों में जो स्वाभाविक आकर्षण है, वह वही है जो भाई और बहिन में, माँ और बेटे में, बाप और बेटी में होता है।' और आगे चल कर इससे भी ज्यादा ज़ोर से कहते हैं, 'नहीं, मुझे अपनी पूरी ताक़त के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है !'

वह यह कहते-कहते कभी नहीं थकते कि अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाकी सब बातें अपने-आप ठीक हो जाएँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक और शायद यह तो नैतिक भी नहीं है। यह तो सङ्कुचित आचार-दृष्टि है जो इस प्रश्न का कि सदाचार क्या है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या यह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय ? गांधी जी चरित्र पर ही सब जोर लगा देते हैं। मानसिक शिक्षा और विकास को बिल्कुल महत्त्व नहीं देते। यह ठीक है, चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र में रह क्या जाता है ?

गाँधी जी चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड़ दें, इन्द्रिय-भोगों को तिलाञ्जलि दे दें और पवित्र बन जाएँ। लेकिन क्या इस बात में शक हो सकता है कि यह व्यक्तिगत त्रुटिएँ कम हानिकारक हैं, बनिस्बत एक जमात-द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन के ? यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियों का पोषण करती और उनके फूलने-फलने की पूरी सुविधा देती है। धर्म बातें तो शान्ति की करता है, लेकिन उन प्रणालियों और व्यवस्थाओं समर्थन करता है, जो बिना हिंसा के ज़िन्दा नहीं रह सकतीं। वह तलवार से की जाने वाली

हिंसा की तो बुराई करता है, लेकिन उस हिंसा का क्या जो शान्ति का लबादा ओढ़े चुपचाप आती है, लोगों को भूखों तड़पाती और जान से मार डालती है और जो इससे ज्यादह बुरा यह करती है कि बिना जाहिरा कष्ट पहुँचाये उन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है, हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है। क्या गाँधी जी समझते हैं कि ऐसे वातावरण में वह मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा कर सकेंगे?

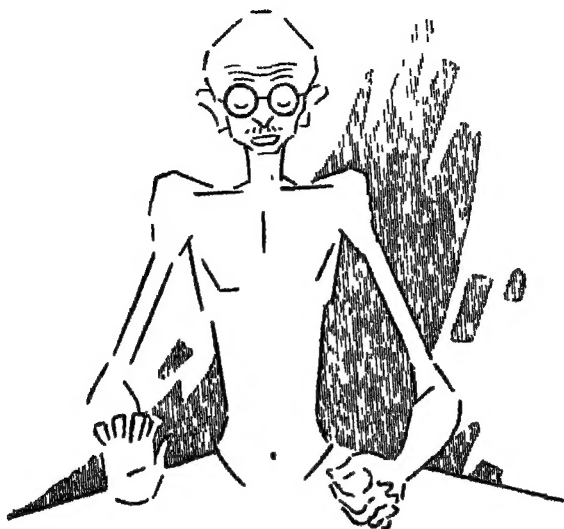
यह मसला महज़ सदाचार या नीति के वादविवाद का नहीं है। बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना और उसे काम में लाना होगा। अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यों के पीछे छिप कर हम अपनी जान नहीं बचा सकते, हमें तो इन तथ्यों का सामना करना होगा और अपने को उनके माफ़िक बनाना पड़ेगा। तभी हम इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रह कर उल्लेखनीय विषय बन सकेंगे। ('मेरी कहानी' से)

—जवाहरलाल नेहरू









I verily believe, one who follows the prescription of eternal mother never grows old......Remember, a woman was your mother before she became your wife. Think of her as your mother, chastest literature will flow from your pen, like beautiful rain from heaven which waters the thirsty earth below.

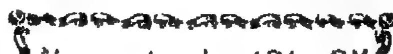
M. K. Gandhi



प्रायश्चित के आँसू

सत्य के प्रयोगों की आत्मकथा को तीन-चौथाई से अधिक लिखने के बाद, एकाएक, गाँधीजी के सामने धर्म-सङ्कट उपस्थित हो जाता है। शङ्का पैदा होती है, सत्य को दर्शाने के लिए कितनी बातें लिखनी चाहिएँ, कितनी नहीं।

शङ्का साधारण है। अस्वाभाविक या अटपटा भी इसमें कुछ नहीं है। प्रत्येक लेखक के जीवन में इस तरह की शङ्काएँ अक्सर आती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक लिखना कुछ चाहता है, लिखा



कुछ जाता है—बिल्कुल विरोधी दिशा की एक दम नयी चीज़ तय्यार हो जाती है। पर प्रत्येक लेखक सत्य के प्रयोग नहीं लिखता। सत्य के प्रयोगों को इस तरह भटकने भी नहीं दिया जा सकता। सत्य के पथ-भ्रष्ट होने की सम्भावना धर्म-सङ्कट को जन्म देती है।

गाँधी जी के लिए यह धर्म-सङ्कट महत्त्वपूर्ण है—इतना अधिक कि सत्य के प्रयोगों का यह एक अविछिन्न अङ्ग बन गया है। एक परिच्छेद इसकी भेंट किया गया है। उल्लेखनीय पहलू इसका यह है कि अँग्रेज़ों से गाढ़ परिचय शीर्षक परिच्छेद का प्रारम्भ करते समय यह धर्म-सङ्कट पैदा हुआ है। अँग्रेज़ों के परिचय का वर्णन करने के लिए क्या लिखा जाए, क्या नहीं, महत्व का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सत्य के दाग़ लगने का अन्देशा उठ खड़ा होता है। गाँधीजी सतर्क होते हैं; सोचते हैं, इन अध्यायों के लिखने का विचार स्थगित कर दिया जाए तो क्या ठीक न होगा?

गाँधियन टच के साथ इस शङ्का को निर्मूल कर गाँधी जी आगे बढ़ते हैं—"जब तक यह साफ़ तौर पर मालूम न हो कि स्वीकृत अथवा आरम्भित कार्य अनीतिमय है, तब तक उसे नहीं छोड़ना चाहिए।"

सत्य की रक्षा के लिए गाँधीजी स्वीकार करते हैं, "यदि कोई फ़ुरसतवाला आदमी मुझ से जिरह करने लगे तो न-जाने कितनी रोशनी इन प्रकरणों पर पड़ सकती है।"

धर्म-सङ्कट प्रस्तुत हुआ है अँग्रेज़ों को लेकर, बन आती है फ़ुरसत वाले बेगारी आदमियों पर! क़लम की हरकत आगे बढ़ती है। कल्पना-चित्र सामने आता है, "आलोचक की दृष्टि से यदि कोई छान-बीन

करने लगे तो वह कितनी ही पोल खोल कर दुनिया को हँसा सकता है और खुद फूल कर कुप्पा बन सकता है !"

धर्म-सङ्कट के अवसर पर ऐसी हिमाकत करना बेजा होगा। इसका उल्लेख करने से पहले गाँधी जी को पुण्य-स्मरणों का आवाहन करना पड़ा है। संसार की ईश्वर पर जो श्रद्धा है, उसे अपनी बनाकर वह आगे बढ़े हैं। उस पर शङ्का प्रकट करना ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा पर शङ्का प्रकट करना होगा।

इस धर्म-सङ्कट का पारिवारिक इतिहास भी है। गाँधी जी के दादा ओटा गाँधी के जीवन में भी इसका प्रवेश होता है। राजदरबारी साजिश के कारण उन्हें पोरबन्दर छोड़ना पड़ता है। शरण लेते हैं वह जूनागढ़ राज की। नए अन्न-दाता के दरबार में पहुँचते हैं। सलाम झुकाते हैं—लेकिन बाएं हाथ से। वाजिबी उज्र पेश होता है, ऐसी हरकत क्यों ?

ओटा गाँधी कमर का बाँस सीधा कर जवाब देते हैं, "दाहिना हाथ तो पोरबन्दर के सुपुर्द हो चुका है।"

पोरबन्दर के अन्न-दाता को छोड़ना पड़ा—साज़िश के आरोप के प्रति विद्रोह या मजबूरी के रूप में। न्याय संगत होते हुए भी इस तरह का आरोप दुःखद होता है। इसे संभालने के लिए जूनागढ़ राज में सलाम किया गया बाएँ हाथ से। राइट और लेफ्ट, नरम और गरम का यह मिश्रण धर्म-सङ्कट के द्वन्द को सह्य बनाने में मदद देता है। द्वन्द इससे दूर नहीं होता —दूर होता भी है तो इस तरह जैसे आँखें बन्द कर लेने पर कोई चीज़ ग़ायब हो जाती है।

ऐसा ही प्रसंग गांधी जी के पिता के जीवन में भी आता है। पोलिटिकल एजेण्ट से उनका झगड़ा होता है—ठाकुर साहब की

सम्मान-रक्षा के लेकर। बरख्वास्त करने की उन्हें धमकी दी जाती है, हवालात में भी उन्हें रहना होता है, लेकिन अपनी वफ़ादारी पर दृढ़ रहते हैं।

दरबारी साज़िशों का कोई अन्त नहीं। बड़े होने पर गांधी जी को भी उनसे वास्ता पड़ता है। वहाँ का वातावरण असह्य हो उठता है और बजाय इसके कि सत्याग्रह का प्रथम दर्शन वहाँ हो, वह दक्षिण अफ्रीका पहुँच जाते हैं।

इसके बाद राजकोट के ठाकुर साहब से गांधी जी शेकहैण्ड करते हैं उस समय जब कि वह खुद बापू ही नहीं, वरन् जगत बापू और महात्मा का पद सुशोभित कर चुके होते हैं। ठाकुर साहब का हृदय परिवर्तन करने के लिये अनशन करते हैं, जिस पैरामाउण्ट पॉवर के प्रतिनिधि की वजह गांधी जी के पिता तथा सम्पूर्ण परिवार को विष की घूँट पीनी पड़ी, उसी के आश्वासन पर व्रत तोड़ते हैं। जयनाद से आकाश गूञ्ज उठता है, फिर गांधी जी को अपनी असहायावस्था और शक्ति-ह्रास का भान होता है। क़दम वापिस फेरते हैं और अन्त में ठाकुर साहब की बग़ल में सम्मान पाते हैं; जलूस में साथ निकलते हैं; प्रजापरिषद् के सुधार के लिए डेढ़ हजार की थैली भेंट में लेते हैं और पदार्थ पाठ जनता के सामने आता है, राजा और प्रजा के बीच में पड़ने वाले हम काज़ी कौन होते हैं!

गांधी जी ने अपने बचपन का ज़िक्र किया है—बापू की दृष्टि से व्यवस्थित करके, उस पर अपना रंग चढ़ा कर। पितृसेवा का उनका उल्लेख काफ़ी प्रदर्शन के साथ हुआ है—इतना अधिक की एकाएक शङ्का होने लगती है, कहीं यह झूठी सती का जोश तो नहीं है! पिता के पाँव दबाने के पीछे वह अपना खेल-कूद सब छोड़ देते हैं—मास्टर

से लाञ्छित तथा झूठा कहलाने की हद तक; श्रवण कुमार के नाटक का बुख़ार सिर पर बुरी तरह सवार हो जाता है। इतना ही नहीं, दृढ़ निश्चय के रूप में आप कहते हैं, "मैं इतना जानता था, बड़े बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। जैसा कहें, वैसा करना चाहिए। वह जो कुछ करें, उसका काज़ी हमें नहीं बनना चाहिए।"

काज़ी गांधी जी भले ही न बने हों, लेकिन अपने पिता की शीतल छत्रछाया से अपने को दूर करने का—पूर्ण प्रतिशोध के साथ—प्रयत्न गांधीजी ने किया है—आत्महत्या करने के प्रयत्न की हद तक। निष्क्रिय विरोध की, पैस्सिव रेज़िस्टेन्स की, यह चरम सीमा है।

आत्महत्या उस समय गांधी जी नहीं कर सके। इसके बाद वह पिता के चरणों के और भी निकट पहुँच गए। पिता के पांव दाबना उनको अति प्रिय सेवा हो गई—जीवन में जैसे यही प्रधान है; और सब कुछ गौण। बचपन की अनेक बेवकूफ़ियों में से एक यह भी थी—आत्महत्या प्रसङ्ग का उल्लेख यह प्रकट करने के लिए हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। पर अभी और भी।

गांधी जी अपने पिता के चरणों से ऊपर सिर न उठा सके। वहाँ से खिसक कर उनकी नज़र टिकी अपने मंझले भाई पर—जो उनसे बड़ा था, डीलडौल में, ताकत में, हर चीज़ में। उसके बराबर पहुँचने की कोशिश आपने की। जब यह भी पूरी न हुई तो उसके दोस्त, सहपाठी, के बराबर में आगए। घरवालों ने इस गठबंधन का विरोध किया, लेकिन गांधी जी उसके निकट पहुँचते ही गए। घरवालों ने आशङ्काएँ प्रकट कीं; आपने अपने को आशङ्का-प्रूफ़ घोषित किया। इस नये मित्र के साथ गांधी जी काफ़ी आगे बढ़े—जैसे कसम खाकर, घरवालों को एक सबक देने के लिए। नतीजा इसका वांछनीय हुआ—ग़लत

तरीके से ही सही, अपने बड़े भाई के बराबर वह आगए। सोने के कड़े की चोरी का प्रसङ्ग भी यहीं आता है—कर्ज़ चुकाने के लिए।

यहाँ आकर गांधी जी ठिठकते हैं—ज़रूरत से ज्यादह आगे बढ़ गए। लगता है, उन्हों ने अपने पिता के प्रति अपराध किया है। इरादा करते हैं, एक पत्र द्वारा पिता से चोरी का सब हाल कह डालें। पत्र लिख कर पिता के पास पहुँचा देते हैं।

पितृ सेवा का यह दूसरा पहलू है। एक बार निष्क्रिय विरोध व्यक्त हुआ था आत्महत्या के रूप में। इस बार वह व्यक्त हुआ किञ्चित दूसरे तरीके से, ब्रदरहुड की शक्ति को साथ लेकर। चोरी की ख़बर पाकर पिता की क्या हालत होगी, अतिरञ्जित कल्पना-चित्र गांधी जी पेश करते हैं, "मन में आया कि यह चोरी कबूल करलूँ। पर उनके सामने मुँह खुलना मुश्किल था। यह डर तो मुझे न था कि पिता जी खुद मुझे पीटेंगे, पर यह खटका ज़रूर था कि वह खुद बड़ा सन्ताप करेंगे, शायद अपना सिर भी पीट लें।"

इस कल्पना-चित्र का सम्बन्ध, वस्तुतः, गांधीजी के पिता से उतना नहीं, जितना कि स्वयं गांधी जी के मनोविज्ञान से है। जो भी हो, यहाँ से सरेण्डर, अपराधी आत्मा का आत्मसमर्पण, शुरू होता है। पिता ने चिट्ठी पढ़ी। आँखों से मोती के बूँद टपकने लगे। चिट्ठी भींग गई। थोड़ी देर के लिए उन्हों ने आँखे बन्द कर लीं। चिट्ठी फाड़ डाली। फिर लेट गए।

यहाँ ध्यान देना है उन शब्दों और उपमाओं पर, जिनके सहारे गांधी जी ने इस प्रसङ्ग और उसके प्रभावों को व्यक्त किया है। पिता के आँसू मोती की बूँद बन कर हमारे सामने आते हैं। मोती-बिन्दु के प्रेम-बाण उन्हें बींध डालते हैं। इतना ही नहीं, गांधी जी एक मधुर

कसक के साथ कहते हैं, "यदि मैं चितेरा होता तो आज भी उस चित्र को हू-बहू खींच सकता !"

निश्चय ही वह एक हृदयग्राही चित्र होता—सौ-सौ जानें निछावर करने लायक ! ऐसी शान्तिमय क्षमा पिता के स्वभाव के प्रतिकूल थी; पर कौन कह सकता है, यह शान्तिमय क्षमा थी या अपने ही औरस को अपना ही शिकार देख पिता की करालता प्रायश्चित के आँसू बहा रही थी !





माता की मसादी

अपने पिता के कुटुम्ब-प्रेम, सत्य-प्रियता, शौर्य और उदारता-आदि गुणों को फिनिशिंग टच देते हुए गाँधी जी कहते हैं, 'मेरा ख़याल है, वह कुछ विषयासक्त भी रहे होंगे।'' इस ख़याल के आधार का उल्लेख गाँधी जी ने नहीं किया है। एक चीज़ हमारे सामने है—चालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने चौथा विवाह किया। लेकिन गाँधीजी इस विवाह की ही देन हैं—इस सदी की सब से महान आत्मा!

गाँधी जी ने अपनी पितृ-सेवा का जितना उल्लेख किया है, अपनी

माता की पति-सेवा का उतना नहीं—कहें कि कुछ भी नहीं। मालूम होता है, गाँधी जी की पितृ-सेवा के सामने उनकी माता की पति-सेवा के लिए जैसे गुञ्जायश ही नहीं रह गयी थी। सिर्फ़ एक मार्ग था—व्रत-तपस्या का। कठिन-से-कठिन व्रत वह करतीं, बीमारी के दिनों में भी। चतुर्मास में उन्होंने प्रण किया, सूर्य को देखकर ही भोजन करेंगी। घटा-पानी में सूर्य-दर्शन मुश्किल हो जाते। इन व्रतों का जिक्र करते हुए गाँधी जी कहते हैं, "ऐसे दिन मुझे याद हैं, जब सूर्य को देखकर हमने पुकारा है, 'माँ-माँ, वह सूरज निकला!' लेकिन माँ के आने तक सूरज छिप जाता। माँ कहतीं, 'खैर, कोई बात नहीं; ईश्वर नहीं चाहता कि मैं आज भोजन खाऊं।"

आश्चर्य है, गाँधी जी नास्तिक नहीं बने, हालाँकि जगत-बापू वह बन गए हैं। अपनी पितृ-भक्ति तथा माता की सहनशीलता के आदर्श की प्रति मूर्ति के रूप में स्थापित करने का अवसर भी उन्हें इसी की बदौलत मिला है।

माता जी के व्रत-उपवासों का पिता जी पर क्या और किस तरह का प्रभाव पड़ता था, इसका पता नहीं चलता। घर की चहारदीवारी में दो ही चीज़ें जैसे हमारे सामने आती हैं—माता के व्रत-उपवास और पुत्र की पितृ-सेवा। माता की व्यवहार-कुशलता, बुद्धि और योग्यता, गांधी जी कहते हैं, रनवास में ठीक-ठीक आङ्की जाती थी। माँ साहब—ठाकुर साहब की विधवा माता और चालीस वर्षीय कबा गांधी की युवा पत्नी एक-दूसरे को समझती थीं, ठीक मूल्य आंकती थीं। गांधी जी की स्मृति में यह सम्मेलन अब तक ताज़ा है।

पितृ-सेवा और विषयासक्ति गाँधी जी के जीवन में साथ-साथ, मानो ताल देते, चले हैं। क्लाइमैक्स पर दोनों पहुँचे हैं पिता की बीमारी के

समय। एक ओर पाँव दबाते, दूसरी ओर मन शयन-गृह की ओर दौड़ता। शयन-गृह पैर दबाने के लिए, पैर दबाना शयन-गृह के लिये जैसे स्फूर्ति-केन्द्र बन गया। अजीब दौर था। रात के ग्यारह-साढ़े ग्यारह तक बज जाते। अन्तिम रात्रि को, इसी टाइम पर, चाचा जी ने छुट्टी दी, "जा कर सोओ।" सीधे शयन-गृह में पहुँचे। भरी नींद में कस्तूर बा को जगाया। कुछ मिनट हुए होंगे कि नौकर ने द्वार खटखटाया। सन्देश मिला, "पिता जी गुज़र गए!"

यह घटना आज भी कांटे की तरह गांधी जी के हृदय में चुभती है, शर्म से वह गरदन झुका लेते हैं। इसे वह एक ऐसे कलङ्क के रूप में लेते हैं, जिसे आज तक दूर न कर सके। गाँधीजी को इससे हार्दिक दुःख हुआ—इसलिए नहीं कि पिताजी गुज़र गए, बल्कि इसलिए कि अन्त समय तक वह उनकी सेवा नहीं कर सके।

इस दुःख की तुलना की जा सकती है उस दुःख से जो गाँधी जी को अपनी माता की मृत्यु का समाचार पाने पर हुआ था। पिता जी की मृत्यु से इतना नहीं, जितना कि माता जी की मृत्यु से गाँधी जी को आघात पहुँचा। गाँधीजी को लगा जैसे उनके सारे मनसूबे मिट्टी में मिल गए हैं। गाँधी जी ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि उनकी माता जी की मृत्यु हो गई है। तदनुकूल उन्होंने अपने व्यवहार को बनाया—आँखों से एक भी आँसू नहीं निकलने दिया!

विलायत जाते समय माता जी ने गाँधी जी से वचन लिया था—माँस-मदिरा और पर-स्त्री-गमन से दूर रहेगा। यह वचन लेने के बाद वह गाँधी जी को विलायत जाने की आज्ञा देती हैं। इन वचनों का पालन गाँधी जी ने किया है। एक माला भी माता जी ने पहनाई थी। गाँधी जी ने चोटी-जनेऊ को तिलाञ्जलि दे दी, लेकिन माला को नहीं।

कोट्स नामक एक व्यक्ति ने इसे वहम समझ कर दुःख प्रकट करते हुए कहा, ''यह अंध विश्वास तुम जैसों को शोभा नहीं देता। लाओ, तोड़ दूँ।''

''यह कण्ठी तोड़ी नहीं जा सकती। माता जी की प्रसादी है।''

''तुम्हारा इस पर विश्वास है?''

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। यह भी नहीं भासित होता कि इसे न पहनूँ तो कोई अनिष्ट होगा। परन्तु जो माला मुझे माता जी ने प्रेमपूर्वक पहनाई है, जिसे पहनाने में उसने मेरा श्रेय माना, उसे बिना प्रयोजन नहीं निकाल सकता। जीर्ण होकर जब वह अपने आप टूट जाएगी, तब दूसरी मँगा कर पहनने का लोभ मुझे नहीं रहेगा। पर इसे नहीं तोड़ सकता।"

गाँधी जी के हृदय पर माता की मूर्ति काफी गहरी—अवाञ्छनीय हद तक—अङ्कित हुई है। इतना ही नहीं, कस्तूरबा को भी वह माता की दृष्टि से देखने—ब्रह्मचर्य का व्रत लेने—के बाद ही पहचान सके। बस यहीं पर नहीं होती, पुरुष-नारी के बीच गांधीजी किसी आकर्षण को सहज-स्वाभाविक मानते हैं तो वह माँ और बेटे, बाप और बेटी, भाई और बहिन वाले आकर्षण को। यही वह आकर्षण है जो दुनिया को क़ायम रखे हुए है। यह विश्वास क्लाइमैक्स पर पहुँचता है उस समय, जब गाँधी जी ऊँची आवाज़ से घोषित करते हैं, "नहीं, मुझे अपनी पूरी ताक़त से कहना चाहिए कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है!"





प्रथम मिलन

समूचे परिवार में गांधी जी सब से छोटे थे—अपने पिता की अन्तिम पत्नी की अन्तिम सन्तान। दुर्बल और कृषकाय भी वह सब में अधिक थे। छुटपन और हीनावस्था की चेतना को उभारने की पूरी सामग्री घर में मौजूद थी। काफ़ी बड़ा परिवार—गांधी जी जिधर दृष्टि उठाते, सब उनसे बड़े ही दिखाई देते, असमर्थ शैशव मरोड़ खाकर रह जाता। बालक के मस्तिष्क पर इस तरह का वातावरण अजीब प्रभाव डालता है। वह जल्दी-से-जल्दी बड़ा होना

चाहता है, जबकि घर वाले उसे अपनी गोदी का खिलौना बनाए। रखना ही चाहते हैं। कहीं-कहीं इन दोनों स्थितियों की खिचड़ी भी चलती है और बालक का मन अस्पष्ट द्वन्द से उलझा रहता है। जो भी हो, बड़ा होना वह हर सूरत में चाहता है—अपनी बाल-बुद्धि के मुताबिक वह तरीक़े भी अख्तियार करता है। बड़ों के कृत्यों का आलोचक भी वह बन जाता है—छोटी-से-छोटी बात को वह मार्क करता है। यह आलोचना, ज़रूरी नहीं, कार्य रूप में परिणत होकर ही सामने आए। मन-ही मन बड़प्पन की कतर ब्योंत कर मन को संतोष देने से भी काम चल जाता है। बड़ों का कहना न मानना, उनके कामों में मीनमेख निकालना जहाँ एक बड़ा अपराध समझा जाता है, वहाँ इस तरह की आलोचना के व्यक्त होने का अवसर नहीं मिलता—मिलता भी है तो विरोधी दिशा में। बड़ों की पूजा प्रदर्शन पर उतर आती है, आलोचना के अनुपात में यह प्रदर्शन भी शानदार होता जाता है।

गांधी जी के जीवन में इस द्वन्द ने काफ़ी बड़ा और प्रमुख भाग लिया है। पितृ सेवा का उल्लेख किया ही जा चुका है। माँस खाना शुरू करना, सिगरेट-बीड़ी-आदि पीना भी इसी दौर के कृत्य हैं। बड़प्पन महसूस करने का सब से पहला और सब से अच्छा मौक़ा मिलता है उन्हें बारह वर्ष की अवस्था में—विवाह होने पर। पत्नी के रूप में पहली बार उन्हें एक ऐसा साधन मिलता है, जिस पर वह अपने को प्रतिष्ठित कर सकें। बारह-तेरह वर्ष का पुरुषसिंह अपनी अधकचरी बुद्धि, अधकचरे और विरासत में मिले क्षीणकाय शरीर को लेकर जितना जो कुछ कर सकता है, वह गांधीजी ने किया—पतिदेवशिप के सिंहासन को सुशोभित करने के लिए।

प्रथम रात्रि के माधुर्य का एक पेटेण्ट धारणा-चित्र, चालू सिक्के की तरह, हम सब के हृदय पर छाया है। यह धारणा-चित्र, कहने की ज़रूरत नहीं, विकृत और अतिरञ्जित होता है। पहली रात की असफलता या सफलता का माप-दण्ड भी वह बन जाता है। पुरुष के जीवन में पहली बार नारी का प्रवेश होता है और वह चिन्तित रहता है कि कसौटी पर खरा उतरने में कोई कसर न रह जाए। भाभी, घरके रिश्तेदार, मित्र, इस सम्बन्ध में पढ़ा हुआ साहित्य—बड़ी आशाओं और उत्साह के साथ, पौरुष को सार्थक करने की चेतावनी लिए, चुटकी और व्यङ्ग-बाणों के सहारे फूलों की सेज पर उसे धकेल देते हैं। सत्य के शोधक-जैसी उसकी गति वहाँ होती है—चारों ओर अन्धकार उसे दिखाई देता है, वह समझ नहीं पाता कि उसका अगला क़दम क्या हो, निष्क्रिय विरोध और तजनित द्वन्द का वह शिकार होता है। लेकिन पौरुष का स्खलन अपने अस्तित्व का स्खलन है। और कुछ नहीं होता तो हाथ-पाँव पटक कर, अतिरञ्जित प्रदर्शन तथा सम्भव-असम्भव क्रियाओं के द्वारा वह अपने को स्थापित करता है। बाद में, कुछ जान-पहचान जाने परे, क़सम खाकर वह पहली रात की कसर निकालने का प्रयत्न करता है। कसर न रह जाए की तख्ती उसके सामने लटकी रहती है। उम्र बीत जाती है, मगर वह अपने काम-जीवन को संभाल नहीं पाता। अति की ओर वह आकृष्ट होता है, या तो घर में वेश्यालय का ताण्डव होगा या फिर ऐन्द्रिक आकर्षण को पाप से सम्बद्ध कर सन्यासी हो जाएगा। बीच का दौर और भी प्राणलेवा होता है, ऐन्द्रिक आकर्षण से पीछा भी नहीं छूटता, उससे मित्रता भी स्थापित नहीं होती। उस शराबी जैसी उसकी हालत हो जाती है जो रात को पीता है और दिन में

तोबा करता है। होते-होते एक स्थिति ऐसी भी आ जाती है जब नशे से अधिक तोबा करने और उसे तोड़ने का आकर्षण ही, यंत्रवत, शराब पीने के लिये उसे मजबूर करता है। तोबा करने के लिए ही वह शराब पीता है—इसलिए कि तोबा से उसे शान्ति मिलती है। संयम का असंयम और अहिंसा की हिंसा का इस स्टेज पर आकर ही प्रादुर्भाव होता है।

प्रथम रात्रि के लिए तैयार करने का बीड़ा उठाया गांधी जी की भाभी ने। गांधी जी स्वीकार करते हैं, ट्रेनिङ्ग नाकाफ़ी थी। इसके साथ ही वह यह भी मानते हैं, अगर यह अधूरी ट्रेनिङ्ग न भी होती, तो भी कुछ बिगड़ता नहीं। संस्कार सब सिखा देते हैं।

घर की चहार दीवारी के अन्दर दस-ग्यारह वर्षीया बालिका पत्नी के पतिदेव बनने में गांधीजी को कोई दिक्कत नहीं होती। संस्कार-प्रदत्त सार्टीफ़िकेट ने रास्ता और भी साफ़ कर दिया। इतना ही नहीं, एक बच्चे का बाप बनने में भी वह समर्थ हो गए। इस बच्चे को आज गांधी जी दुहेरी शर्म के रूप में लेते हैं। लेकिन इस बच्चे की बदौलत ही, चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में, गांधी जी को सेक्सुएल साइंस का पास्ट मास्टर होने का अधिकार मिला है। दावे के साथ वह कह सके हैं, "पति-पत्नी का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है!"

घर की चहार दीवारी से अब ज़रा बाहर चले चलिए। गांधी जी के लिए एक बाई से सब कुछ तय कर लिया गया है। वहाँ जाकर अपने पौरुष को प्रतिष्ठित करने के अलावा गांधी जी के लिए और कुछ करना बाक़ी नहीं रह जाता। गांधी जी वहाँ पहुँचते हैं। आँखों के आगे अंधकार छा जाता है, ज़ुबान जैसे खोले नहीं खुलती, हाथ-पाँव सकते

में आ जाते हैं। बाई के हृदय में भी न तो मातृत्व जागता है और न-ही समाधिस्थ महात्मा के चरणों पर वह सिर रखती है। पर हम भूलते हैं, अंधकार में प्रकाश देखने की क्षमता गांधी जी ने बाद में पाई है। सत्य के इस प्रकाश के सहारे ही गांधी जी एक पत्र-प्रेषक को, इन कृत्यों की ओर झल्ला कर इशारा करने पर, झल्ला कर उत्तर देते हैं, "हाँ, मैं विषयासक्त रहा हूँ—लेकिन अपनी पत्नी के साथ ही!"

यहाँ गांधी जी अपने साथ ज़्यादती करते हैं। विषयासक्ति जैसी चीज़ का उनके पैटर्न में कोई स्थान नहीं है। वह एक ऐसा बेमौजूँ और अनावश्यक पेबन्द है, जो उनके जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया है। विषयासक्ति का प्रदर्शन उनकी काम-चेतना के प्रादुर्भाव और उसकी प्रेरणा का फल नहीं है, वरन् वह जैसे एक बाहरी चीज़ के रूप में उन पर लाद दिया गया है। आयु और यौवन के तक़ाज़े की ज़मीन पर खड़े होने का अवसर उन्हें नहीं मिला—जब इसकी सम्भावना हो सकती थी, तब वह विलायत में माता के वचनों की रक्षा कर रहे थे। बच्चे उनके हुए, लेकिन वे उनकी काम-प्रेरणा का वाञ्छनीय या अवाञ्छनीय फल नहीं हैं। उन्होंने इस चीज़ का अनुभव ही नहीं किया, हाँ उपयोग अलबत्ता किया है। बुढ़ापे में चौथी शादी करके कबा गांधी महात्मा को जन्म दे सकते हैं। गांधीजी भी कोशिश करते हैं, सफल भी होते हैं—लेकिन हाथ लगता है एक काला धब्बा, ह्वाइटवाश करने पर भी जो उभर-उभर आता है!





एण्टी क्लाइमैक्स

गाँधी जी के चारों ओर का वातावरण, बाहर-भीतर से मिलने वाला प्रत्येक स्पर्श कोंच-कोंच कर बड़ा बनाने के लिए उन्हें उकसाता है। घर में तो छुट-भइया थे ही, बाहर भी उन्हें जो मिला बड़ा-भइया ही। स्कूल में, खेल-कूद में—हर दिशा और हर क्षेत्र में उन्हें बड़े मापदण्ड से ही वास्ता पड़ा—अक्षमता और हीनभावना के कचोटे जाने के अवसर क़दम-क़दम पर मिलते हैं। प्रतिक्रिया जो होनी चाहिए थी, वही हुई—हीन-भावना के प्रत्येक स्पर्श ने ठोंक-पीट कर उन्हें हकीम

बनाना शुरू किया। गाँधी जी आगे बढ़े, लेकिन वापिस लौटना पड़ा—न-केवल असफल होकर ही, बल्कि लज्जा और सङ्कोच के साथ, अपराधी आत्मा की प्रताड़ना लेकर, प्रायश्चित और पश्चाताप की हद तक। अपराधी आत्मा की इस प्रताड़ना को, प्रायश्चित और पश्चाताप को, गाँधी जी ने इतना महत्व दिया है कि शङ्का होती है, क्या वह सचमुच में आगे बढ़ना चाहते थे, क्या यह उनका ढोंग नहीं था। प्रायश्चित की ज़मीन और उसके कारणों को जब देखते हैं तो यह आशङ्का और भी गहरा रूप धारण कर लेती है। यहाँ आकर उनका दिमाग़ बिल्कुल न्यूरॉटिक की तरह काम करता है। वस्तुस्थिति को देखने से वह इन्कार कर देते हैं, काल्पनिक सृष्टि वह खड़ी करते हैं और अपराधी आत्मा का समर्थन करने वाले काल्पनिक भय से भयभीत हो पीछे हट जाते हैं—अपने तमाम किए कराए पर पानी फेरने की हद तक। वह कुछ करना चाहते हैं, इसमें भी हमें सन्देह है—करना चाहते हैं, तो प्रायश्चित-प्रपञ्च की सृष्टि करने के लिए, उन्हें अगर किसी चीज़ की चिन्ता है तो जैसे इसी की। उनके प्रत्येक सत्य के प्रयोग और आत्म-शुद्धि के प्रयत्नों के पीछे अपराधी आत्मा की प्रताड़ना ही वायरपुलर का काम करती दिखाई पड़ती है। यही उनका उद्देश्य है, इसी के लिए वह जीते हैं—उनके जीवन के पैटर्न का निर्माण इसी की ज़मीन पर हुआ है। इसकी रक्षा करने के लिए वह देश को, देश की आज़ादी को, किसान और मज़दूरों के हितों की—दुनिया की बड़ी-से-बड़ी चीज़ को, त्याग और तपस्या के नाम पर, एकनिष्ठ महात्मा की तरह, साहस और दृढ़ता के साथ ठुकरा देंगे। जनता और उनके अनुयायी उनसे नाराज़ हो सकते हैं, झल्लाकर उन्हें फांसी पर भी लटका सकते हैं, पर वह दिन गांधी जी के लिए शुभ दिन होगा—उस दिन वह अपने जीवन

को सार्थक कर सकेंगे—ईसामसीह की तरह, अपने भाइयों के अपराधों के लिए जिसने अपने को कुरबान कर दिया !

लेकिन यह स्थिति भी, वस्तुतः, गांधी जी के लिए एक तरह से एण्टी-क्लाइमैक्स ही होगी। सूली पर चढ़ने के बाद ईसामसीह जो पद पा सके, वह पद गांधी जी को जीते-जी ही मिल गया है। उनके साथ जिन विशेषणों का प्रयोग होता है, उनके गुणों की जिस रूप में और जिस तरह से व्याख्या होती है, उनके चमत्कारों पर जिस तरह लोग अपना विश्वास प्रकट करते हैं, उस पर कोई भी देवता—बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा, रश्क कर सकता है। और इस अवस्था पर पहुँचे हैं गांधी जी उस समय, जब कि वह केवल २५-२६ वर्ष के ही थे। असाधारण रूप से उन्होंने अपने को 'आउट-ग्रो' किया है—इतना अधिक कि स्वयं उनकी महत्वाकांक्षा भी स्तब्ध रह गई। अपनी महानता से वह खुद ही भय खा उठे। उन्होंने कल्पना करनी शुरू की—वह देवता की तरह पूजे जा रहे हैं। उनके अनुयायियों की संख्या असंख्य हो गई है और एक दिन आता है, जब यह अनुयायी ही उनके विनाश का कारण हो जाते हैं।

अनुयाइयों की उन्हें चिन्ता नहीं थी, वह तो जैसे पूर्व सिद्ध और निस्संदिग्ध चीज़ थी, चिन्ता थी उन्हें इस सफलता के भावी खतरे की। भारत की राजनीति में प्रवेश करने से पहले, उस समय जब कि भारत में उनकी सफलता और ख्याति पर यहाँ के बड़े-बड़े नेता सन्देह प्रकट करते थे, गाँधी जी ने कहा था, "अनुयाइयों की मुझे चिन्ता नहीं है। वे तो समय आने पर मिल ही जाएँगे। लेकिन ऐसे दिन की कल्पना मैं अवश्य करता हूँ, जब कि मेरे अनुयायी मेरे सिद्धान्तों के कारण, जिनका कि मैं सख्ती से पालन करूँगा और जिन्हें कि वे समझ नहीं

सकेंगे, मेरे अस्तित्व को अस्वीकार कर दे सकते हैं—यहाँ तक कि मैं कहीं का न रहूँ, सड़कों पर मुझे मारा-मारा फिरना पड़े, रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए मुझे हर चौखट पर हाथ फैलाना पड़े और, हो सकता है, वह भी मुझे नसीब न हो।'

गाँधी जी अपने भावी पद के बारे में बिल्कुल निश्चिन्त थे—जैसे खुदा ने उन्हें इसी के लिए नियत किया हो। चाहे जो हो, इसका उलटा नहीं होगा—खुदा की स्कीम में, उनके लिए जैसे इसका स्थान सुरक्षित था। इस स्कीम के पूरा होने में यदि कोई बाधा आएगी भी तो काफ़िरों की तरफ़ से। यह काफ़िर ऐसा करके, उनके प्रति नहीं, खुदा के प्रति विश्वासघात प्रकट करेंगे, सत्य के प्रति विश्वासघात करेंगे, अहिंसा और जितनी भी दैवी देन हैं, उनके प्रति विश्वासघात प्रकट करेंगे। गाँधी जी सब कुछ बर्दाश्त कर सकते हैं, लेकिन इस कुफ्र को बर्दाश्त नहीं कर सकते। ईश्वरीय सत्ता में मानवीय हस्तक्षेप को रोकने के लिए वह अपना ही नहीं, सम्पूर्ण देश का जीवन होम दे सकते हैं—प्रत्येक बाधा को, चाहे वह जितनी बड़ी हो, वह अस्वीकार कर दे सकते हैं, अपने सामने झुका सकते हैं। गाँधी जी के इस सहज विश्वास का, इस विश्वास की दुर्दमनीय शक्ति का, अद्भुत रूप से विकास हुआ है।

गाँधी जी इस विश्वास पर दृढ़ हैं—इस हद तक कि बाल-हट, त्रिया-हट, राज-हट—जितनी भी दुराग्रह-वाचक हट हैं, सब मात खा जाती हैं। उनकी यह दृढ़ता असामाजिक रूप तक धारण किए है—वह कल्पना करते हैं कि इस दृढ़ता की वजह से वह सब से अलग हो गए हैं, जनता ने उन्हें छोड़ दिया है—पूर्ण प्रतिशोध के साथ, दर-दर भटकने के लिए। यह दृढ़ता अपने उच्चतम शिखर पर पहुँचती है उस समय, जब वह जनता की इस उपेक्षा की ज़िम्मेदारी अपनी दृढ़ता से

सम्बद्ध न कर जनता के अज्ञान से सम्बद्ध करते हैं। फ़िनिशिंग टच देते हैं वह प्रायश्चित और आत्मशोधन की क्रियाओं-द्वारा—जनता की अज्ञानता और असामर्थ्य के लिए। गाँधी जी का प्रत्येक छोटा-मोटा आन्दोलन, प्रत्येक व्रत—आमरण तथा अन्य, इनके साथ चलने वाला उनका प्रत्येक वक्तव्य, प्रत्येक अल्टीमेटम, ईश्वरीय सत्ता में मानवीय, कुफ़्री हस्तक्षेप के चैलेञ्ज को स्वीकार करने वाला है। प्रायश्चित् और आत्मशोधन की क्रियाएँ चली हैं उनका अन्त होने पर, गाँधी जी के पीछे क़दम हटा लेने पर—जनता के अज्ञान और असामर्थ्य को सामने रखकर। प्राणों की बाज़ी लगा कर गाँधी जी आगे बढ़े हैं—उनका पीछे हटना भी, विरोधी दिशा में, आगे बढ़ना ही है—इस लिए कि अगर वह हृदय-परिवर्तन कर सके तो ठीक है ही; नहीं कर सके और अगर यह उनकी गलती हुई, तो भी वह उनका प्रायश्चित् हो जाएगा—अपनी ग़लती के लिए, भूल के लिए। दोनों ही सूरतों में वह इतर मानवीय स्थान, हीरो का वाञ्छनीय पद, अपनी दृढ़ता का अति पर पहुँचा हुआ रूप, प्राप्त कर लेते हैं।

गाँधी जी की इस दृढ़ता को जनता ने भय और आश्चर्य के साथ देखा और प्रभावित हुई। चट्टान से टकराने वाली, एक इंच भी जो झुकना नहीं जानती, ऐसी लौह-दृढ़ता के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हुई, उसके आगे झुकने में ही उसने अपना कल्याण समझा, विरोध करने में सर्वनाश। असहाय शिशु की तरह वह उसके चरणों पर निछावर हो गई—अपने भय को सँभालने के लिए, इस दृढ़ता का कल्याणकारी स्पर्श पाने के लिए। इस दृढ़ता के गुणगान हुए और गाँधी जी भारत की नैया के एकमात्र खेवनहार हो गए। जनता ने उन्हें दैवी विशेषणों से विभूषित किया, आध्यात्मिक कल्पनाएँ उनकी करनी

शुरू कीं, एक्ज़ाल्टेड फ़ादर का स्थान उन्हें दे दिया। मानवीय सृष्टि से ऊपर उठ वह जनता से और भी दूर हो गए। भय और श्रद्धा, कोमलता और करालता में इस तरह सामञ्जस्य स्थापित किया गया।

बापू-पद पर सुशोभित कर जनता ने गाँधी जी को अपने से ऊपर उठा दिया—इसलिए कि मानवीय प्रतिद्वन्दिता में वह न आएं, उनकी करालता के संसर्ग की सम्भावना न रहे। एक लाभ इससे और भी हुआ—बापू के नाम पर, अपनी व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी को अलग कर, ऐसे काम करने की गुञ्जायश निकल आई जिन्हें हम किसी और हालत में, अपनी ज़िम्मेदारी पर, कभी भी नहीं कर पाते—करने की शायद हिम्मत भी नहीं करते। अलावा इसके छुटभइयों को एक सूत्र में बांधने, आपसी प्रतिद्वन्दिता को वैमनस्य में परिणत होने से रोकने के लिए भी बापू का यह दैवी रूप, Exalted substitute कारगर सिद्ध हुआ। बापू की शक्ति उनकी अपनी शक्ति हो गई। बापू हैं, वह हैं; बापू नहीं, वह भी नहीं—और एक दिन आया, जब गाँधी जी घोषित कर सके, "गाँधी मर सकता है, किन्तु गांधीवाद अमर रहेगा!"

गाँधीजी के व्यक्तित्व और उनकी महत्वाकांक्षा की सफलता की यह चरम सीमा है। निस्सन्देह, वह भारतमाता का गौरव हैं, एक ऐसा अलङ्कार हैं जो भारत माता की पेट की ज्वाला को भले ही शान्त न कर सके, उसके नंगे शरीर को भले ही न ढ़क सके, लेकिन उसके गले की शोभा अवश्य बन सकता है!





क्रीड़ा-कौतुक

गाँधी जी को अपनी बाल-बुद्धि को, बचपन की घटनाओं द्वारा पड़े प्रभावों को, उस समय उनकी बाल-बुद्धि ने इन घटनाओं को लेकर जो कुछ जैसा भी समझा-बूझा---इन सब को परिष्कृत, परिमार्जित और व्यवस्थित करने का अवसर नहीं मिला। बाल-बुद्धि बाल-हठ बन कर रह गई।

बालहठ चाँद को लेकर मचलना शुरू करती है, बड़ों-बड़ों को

परेशान कर डालती है और पानी में परछाई देख कर सन्तुष्ट भी हो जाती है। निराशा और आशा—दोनों ही बेढंगे रूप में उसके सामने आती हैं। दूध पीते-पीते माँ का स्तन मुँह से छूट जाता है तो वह समझता है, पेट भरने का आधार जाता रहा। माँ का क्षण-भर का विछोह उसकी असहायावस्था को बुरी तरह उभार कर रख देता है। चौबीसों घण्टे माँ के दामन से ही वह चिपके रहना चाहता है। बड़े होने पर भी माँ के दामन की छाया उसे नहीं छोड़ने पाती। नयी परिस्थितियों से सुलटने की, उन्हें अपने अनुकूल बनाने की, वस्तुस्थिति को तटस्थ रह कर देखने तथा तारतम्य स्थापित करने की क्षमता उसमें नहीं रहती। राई को पर्वत करके देखने की आदत उसे पड़ जाती है—तारतम्य स्थापित होता भी है तो पर्वत को राई बना कर। बड़ी बेढंगी कसौटी से वह काम लेता है—देश के किसी कोने में किसी ने किसी के थप्पड़ मार दिया तो उसे लगता है, बलवा हो गया। खून खराबा उसे चारों ओर दिखाई देने लगता है—जैसे एक भी आदमी जीता नहीं बचेगा। एक क्षण में वह उत्साह से उछल पड़ता है—मानों स्वराज्य हाथ में आ गया, कस कर मुट्ठी बांधता है—खिसक कर न चला जाए; दूसरे क्षण ही मालूम होता है, वह भ्रम था। आँखों का धोखा था।

सारल्य गांधी जी की विशेषता है। उनके प्रयत्न सरल रहे हैं—इतने सरल कि विश्वास न हो। स्वयं गांधी जी भी कहते हैं, "जितनी बातें मैं कर सकता हूँ उतनी एक बालक भी कर सकता है।" उनके सभी आन्दोलनों में कौतुक और खिलवाड़ का भाव रहा है। नमक-चोर, प्याज चोर जैसे नायक उसने हमें दिए हैं। बचपन का ज़माना याद आ जाता है—टिलि-लि-लि करके जब हम बड़ों को खिजाते थे। राह चलतों को 'मामू' बना कर स्वराज्य का सुख हमने लिया है।

विदेशी कपड़ों की होली जला कर ताली बजाना, गधों को हैट-टाई से विभूषित कर जलूस निकालना, ताड़ी के वृक्ष काटना, चरखा और तकली चलाना—जिम्मेदारियों के बोझ और नोन-तेल-लकड़ी के चक्कर में फंसे लोगों ने इनका स्वागत किया। जीवन-संघर्ष आज इतना विकट हो गया है कि सिर उठाने की फुरसत नहीं मिलती—मनोरञ्जन का अभाव रह-रह कर अखरता है, बचपन की याद रह-रह कर आती है। जिम्मेदारियों को छोड़कर भाग जाने को तबीयत करती है। पर हिम्मत नहीं होती—उचित समर्थन नहीं मिलता। गांधी जी ने वह पेश किया। वह मनोरञ्जन ही नहीं, देश की आज़ादी को हासिल करने का साधन भी था। आन्दोलन में भाग लेने वालों की कमी न रही। परिणाम वही हुआ जो होना था—न आज़ादी मिली, न रोटी का संघर्ष कम हुआ; और यह कहने की जरूरत नहीं, इस खिलवाड़ को ही जीवन नहीं बनाया जा सकता! लोगों ने देखा, रोटी का सवाल पहले से भी अधिक विकट हो गया है। घर में पड़े चरखों को ईंधन बना कर चूल्हा गरम करना चाहा—पर हो न सका। उधर गांधी जी की लताड़ पड़ी सो अलग—देश में एक भी चर्खा कातने वाला नहीं रहा, इसलिए उन्हें मुंह की खानी पड़ी! उत्साही कार्यकर्त्ताओं को, चर्खे का घर-घर सन्देश पहुँचाने में जिन्होंने दिन-रात अथक परिश्रम किया—इस परिश्रम के फल स्वरूप जिन्हें न मालूम कितने चर्खे भेंट में मिले, हाथ के कते सूत की मालाओं से जिनका गला भरा रहता था, उन्हें गांधी जी ने कोंचना शुरू किया—मज़ाक़ उड़ाना शुरू किया। युवतियों को लजाने में भी वह पीछे न रहे—साड़ी इस तरह न बांध कर इस तरह बांधी है, इसलिए स्वराज्य नहीं मिला। सिर में मांग सीधी न निकाल कर तिरछी निकाली है, इसलिये स्वराज्य का मार्ग तिरछा हो गया। चर्खे

को नल समझ कर दमयन्ती की तरह उन्हें उसके फ़िराक़ में रहना था, मीरा की तरह चर्खे के पीछे उन्हें सब कुछ छोड़ देना था। मज़बूत धागे के अटूट प्रवाह को तकुवे पर लिपटते देख कर जो आनन्द आता है, अस्खलित कताई करने में जो नैसर्गिकता है उसका उन्होंने अनुभव नहीं किया, इसलिए..!

खिलाड़ी की स्पिरिट से जीवन की समस्याओं को पार करना, निस्सन्देह, एक बड़ी भारी विशेषता है। लेकिन खिलाड़ी की तरह जीवन की समस्याओं से, वस्तुस्थिति से, जूझना एक बात है और उन समस्याओं को आँखों की ओट कर एक नयी खिलवाड़ रचना दूसरी। आगे बढ़ कर यह खिलवाड़ ही उस वस्तुस्थिति का यथार्थ-वादी हल बन जाती है। वस्तुस्थिति दूर नहीं होती तो कहा जाता है, खिलवाड़ को सफल बनाने में कमी रही—दोष मढ़ा जाता है खिलवाड़ में हिस्सा लेने वालों के सिर।

माँ-बाप से लताड़े जाने पर बच्चे मुँह पर कुछ नहीं कहते, लेकिन पीठ फिरते ही अपने गुड्डे-गुड़ियों को इकट्ठा कर ताड़न-क्रिया को दोह-राना शुरू करते हैं। इससे न तो माँ-बाप ही दूर होते हैं, न ही ताड़न-क्रिया के कारण सुलझ पाते हैं; हाँ, बच्चों के व्यक्तित्व की विजय अवश्य हो जाती है—मन को सन्तोष देने के लिये, बाल-बुद्धि के अनुसार, नैतिक समर्थन अवश्य मिल जाता है।

बचपन में अधिक निराशाओं से जिन्हें वास्ता पड़ता है या जो अति महत्त्वाकांक्षी होते हैं, निराशा और असफलताओं को रेशनलाइज़ करने की, असफलताओं को सफलता में परिवर्तित करने की, प्रवृत्ति विशेष रूप से उनमें घर कर जाती है। परिस्थितियों और कृत्यों का विश्लेषण कर उन्हें परिमार्जित करने की क्षमता उनमें नहीं रहती,

बचपन के माप-दण्ड से ही वह सब कुछ नापते हैं। प्रत्येक नया अनुभव बचपन के पैटर्न का ही पैबन्द बनता जाता है। असफलता-पुराण की रचना होती है, गल्तियों को देखने से इन्कार कर दिया जाता है और आस-पास वालों से शिकायत की जाती है कि वे उन्हें समझते नहीं। इस नासमझी से वे उनका इतना नहीं, जितना कि अपना नुकसान करेंगे!

ऐसे व्यक्ति सच्चे मानी में परोपकारी होते हैं—अपने लिये वे कुछ नहीं करते; जो करते हैं, दूसरों के लिये। दया तथा सेवा-भाव का अभाव होने पर बीमार पड़ना वह जानते हैं और उस समय तक अच्छा होने से इन्कार कर देते हैं, जब तक कि उनके सिरहाने तीमारदारों की भीड़ न जमा हो जाये। अपनी उपेक्षा और हृदय-हीनता पर प्राय-श्चित के आँसू वे न बहाने लगें। हाथ के कड़े-छड़ों को दिखाने के लिये घर में आग लगा कर शोर मचाने वाली महिला भी इन्हीं के सगे-सम्बन्धियों में आ जाती है। कुछ अपने अङ्ग-भंग भी कर डालते हैं—समाज में दया-धर्म का प्रचार करने के लिये। आत्म-पीड़न, प्रायश्चित, उपवास, भूख–हड़ताल से लेकर आत्म–हत्या तक इस टेकनीक में शामिल हो जाते हैं—सामाजिक भ्रष्टाचार के लिए पदार्थ-पाठ वह बन जाते हैं। मुक्ति मिलती है बहुमूल्य आँसुओं की वर्षा होने पर—पत्थर हृदय भी मोम बनकर पिघलने लगते हैं!





वैष्णव जन तो तेने कहिये

समाज की उपेक्षा के दुष्परिणामों का आईना बन कर दया-धर्म का प्रचार करने वाले पदार्थ-पाठों की समाज को भी जरूरत होती है। पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य का पलड़ा बराबर रखने के लिए उनका अस्तित्व उपयोगी सिद्ध होता है। साधन-सम्पन्न व्यक्ति दूसरों को सबक देने के लिए भी उनका उपयोग करते हैं। इस जग में हाय, सभी दुखी हैं की कविता जीवन के असंतोष को संभालने में मदद देती है।

समाज को पदार्थ-पाठों की ज़रूरत होती है, पदार्थ पाठों को समाज की। दोनों एक-दूसरे से फायदा उठाते हैं, अपने-अपने तरीके से। अपने पापों के लिये प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति पाकर समाज की अपराधी आत्मा सन्तुष्ट होती है, छाती का बोझ हलका होता है। पदार्थ पाठ भी समाज का अलङ्कार बन चलते हैं—जो और किसी हालत में सम्भव नहीं होता। समाज की उपेक्षा ही दूर नहीं होती, इसके लिए पश्चाताप भी करना होता है। प्यास बुझाने के लिए उन्हें कुवे के पास नहीं जाना पड़ता, कुवा उनके पास आता है।

पदार्थ-पाठ बनने की क्रिया, आगे बढ़ कर, एक कला विशेष बन चलती है। नयी जीवन फिलासफी का विकास होता है। ज़ोर-जबर्दस्ती से नहीं, हृदय-परिवर्तन से इसमें सफलता पाई जाती है। उपयोगिता सिद्ध करने के लिए हृदय-परिवर्तन के प्रयोग फिर चलते हैं। तिलों से तो सभी तेल निकालते हैं, यहाँ बालू से उलझा जाता है—हृदय-परिवर्तन होने पर निश्चय ही तेल निकलेगा।

अत्यधिक परिश्रम इसके लिए यह करते हैं। ईमान्दारी, सचाई और अटल विश्वास का परिचय यह देते हैं—हृदय-परिवर्तन की क्रिया यदि सही है तो असम्भव भी सम्भव हो सकता है। तेल से अधिक तेल निकालने की क्रिया उनके लिये प्रधान हो जाती है। सहज विश्वास के साथ तिलों को छोड़ कर बालू से ज़ोर आजमाई करते हैं, सच्चे हृदयों की उपेक्षा कर पत्थर हृदयों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

एक दम नई दुनिया उन्हें खड़ी करनी होती है— जो इस दुनिया के लिए पदार्थ-पाठ बन सके। बड़ी मेहनत इसके लिये उन्हें करनी पड़ती है। वास्तविक दुनिया से मुँह मोड़ कर दूसरी दुनिया खड़ी करना आसान नहीं है—वास्तविकता का भ्रम पैदा करना तो और भी कष्ट

साध्य है। अद्भुत शक्ति का वह इस सृष्टि-रचना में परिचय देते हैं। शुरू करते हैं वह, अपने ढंग से, वास्तविक दुनिया की उपेक्षा का चैलेञ्ज स्वीकार करने के लिये ही। लेकिन शीघ्र ही यह चैलेञ्ज ग़ायब हो जाता है। अपनी नई दुनिया में वह रम जाते हैं, इस दुनिया के खड़ी करने में पैदा हुई नयी उलझनों में गुम हो जाते हैं। इन उलझनों में भी कुछ ऐसी होती हैं जो उन्हें बुरी तरह परेशान कर डालती हैं और उनसे सुलटने में ही यह जी-जान एक कर डालते हैं—यहाँ तक कि नयी सृष्टि रचना का उद्देश्य भी ग़ायब हो जाता है। इन उलझनों से जैसे-तैसे सुलटना ही उनके लिए गङ्गा-नहाना हो जाता है। इस तरह से साध्य ग़ायब हो जाता है, होता रहता है, साधन भी अजब उलझन में पड़ जाते हैं।

उलझनों का एक जङ्गल खड़ा हो जाता है, राह का पता नहीं चलता। अंधकार इसका गुण होता है। ऐसा विज्ञान यह बन जाता है जिसमें अगले क़दम तक का निश्चय नहीं किया जा सकता। सहज विश्वास और अटल श्रद्धा के साथ भटकना होता है—इस आशा के साथ कि राह अपने आप मिल जाएगी।

पथ-प्रदर्शक की यहाँ ज़रूरत नहीं होती। भटकने वाला ही अपना पथ-प्रदर्शक होता है। पथ-प्रदर्शक की ज़रूरत की ओर इशारा करना एक गुनाह बन बैठता है। जीवन की वास्तविकता का स्पर्श व्यक्तिगत अपमान और लाञ्छन के रूप में लिया जाता है। नयी सृष्टि-रचना के प्रति अविश्वास तो इसमें निहित है ही।

वास्तविक जीवन के चैलेञ्ज को स्वीकार कर जिसने नयी दुनिया रचनी शुरू की है—ऐसी दुनिया जिसे एक दिन पदार्थ-पाठ बनना है, उसके लिये अपना सब कुछ जिसने होम दिया है, ऐसे स्रष्टा का

वस्तुस्थिति से परिचय कराना, प्रत्यक्षतः, अपमान के साथ-साथ धृष्ठता भी है। झल्ला कर, खीज कर वह जवाब देता है, "हाँ, आलोचना करने में सिर्फ़ ज़ुबान ही तो हिलानी पड़ती है।" बात भी ठीक है। प्रश्नकर्त्ता ने इतनी मेहनत तो नहीं की है और वह बोलता भी नहीं, यदि समाजिक उपयोगिता के प्रति निहित चुनौती यहाँ नहीं होती। वह और भी 'धृष्ट' हो उठता है, "आखिर आपके इस श्रम का क्या फल निकला? जवाब मिलता है श्रम का फल! श्रम का गौरव करना जिस दिन सीख जाओगे, उस दिन ऐसा प्रश्न नहीं करोगे! फिर बताया जाता है, स्थूल लाभ के लिये श्रम नहीं किया जाता। ऐसा करना श्रम का अपमान है। अपरिग्रह और सादगी के फिर उपदेश चलते हैं। 'धृष्टता' एक क़दम और आगे बढ़ती है, तो आपका साध्य क्या है? मालूम होता है, साध्य की, फल की, चिंता नहीं। साधन है तो साध्य भी अपने आप ठीक हो जायेगा। जो साधन अपनाया गया है, वह गलत हो ही नहीं सकता—ठीक मञ्ज़िल पर पहुँचा ही देगा। साध्य की फिर चिंता क्यों की जाए! यह कला ही ऐसी है कि इसका विद्यार्थी अपने सामने के एक पग से भी अधिक नहीं देख सकता। शोधक और सत्य हृदय के सामने रास्ता अपने आप साफ़ हो जाता है—जङ्गल में भटकते हुए को जैसे अपने-आप रास्ता मिल जाता है!

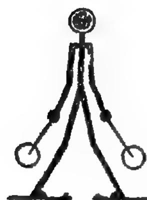
सच तो यह है कि इस जङ्गल से बाहर होना वह नहीं चाहता। इस जङ्गल से बाहर होना, अपनी दुनिया से बाहर होना है—अपने अस्तित्व से इन्कार करना है। इसमें भटकना ही जीवन है, जब तक जहाँ-तहाँ मिली पगडण्डियाँ जीवन की सफलतायें हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए—चहिए भी तो वह अपने-आप आ जाएगा!

इस अपने-आप चले आने में शङ्का प्रकट करना खुदा की खुदाई

में एतराज़ करना है। मुँहतोड़ जवाब दिया जाता है, इस कला का मानने वाला कभी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि उसका विश्वास है, दुनिया उन्हीं नियमों से चलती आई है और चलती रहेगी जो ईश्वर ने बना दिए हैं।

वाजिबी तौर पर धृष्ट होकर यहाँ पूछा जा सकता है, "अगर हमारा शङ्का प्रकट करना कुफ्र है तो आप भी हाथ-पर-हाथ धरे बैठे नहीं रहे हैं—वह ईश्वर के प्रति द्रोह क्यों नहीं है ?" पर यहाँ उनका जवाब दोहराने की ज़रूरत नहीं। वास्तविक जगत से मुँह मोड़ कर जो उन्होंने नयी सृष्टि खड़ी की है, वह सार्वभौम सत्ता का विरोध करने के लिए नहीं, वरन् अपने को उससे identify करने के लिये, उसका स्थानापन्न या मुतबन्ना बनने के लिए—दुनिया में फंसे पामर प्राणियों को दिखाने के लिए कि तुम कहाँ हो और मैं कहाँ !





एफ़िल टावर

मानव-जीवन के पैटर्न का निर्माण जन्म से ही शुरू हो जाता है—माँ के पेट में आने से ही कहें। बचपन में ही उसकी नींव पड़ जाती है। इच्छाएँ छुटपन में ही पैदा हो चलती हैं। उन्हें पूरा करने की शक्ति आती है बहुत बाद में। इन दोनों स्थितियों में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है। परनिर्भरता और असहायावस्था का यह दौर बड़ा दुःखद होता है—इसलिये और भी कि बचपन की अधकचरी बुद्धि आलोचक की दृष्टि से स्थितियों को नहीं देख पाती—असहायावस्था

और सामर्थ्य के कल्पित और अतिरञ्जित चित्र वह घड़ती है, उन्हीं के सहारे वह रोती और हँसती है, अपने को संभालने के लिये तरीके अख़्तियार करती है। हीनता और महानता के जो कल्पना-चित्र उस समय बालक के मस्तिष्क में उठते हैं, उनकी ज़मीन पर आगे का जीवन खड़ा होता है। ज़रा-ज़रा-सी बात जीवन की दिशा बदल देती है। बचपन में किसी वजह से दाहिने हाथ से जो काम नहीं ले पाते, वे बड़े होकर ग़लत हाथ से सही काम करने की ओर झुक जाते हैं। पेट की गड़बड़ ने एक आदमी को महा नीच और कमीना बना दिया—अपने कर्मचारियों को वह बुरी तरह चूसता था, खाने-पीने का ढंग से प्रबन्ध न कर सकें, इस हद तक। एक का क़द छोटा था, सब हँसी उड़ाते थे। बड़े होकर वह उड़ाका बना—आसमान में चढ़ कर वह दुनिया वालों को देखता, उससे भी छोटे दिखाई देते ! इतना ही नहीं, उसकी मशीन भी सब से छोटी थी, जिसके सहारे उड़ान में उसने काफ़ी नाम पैदा किया। तुलना के लिये यहाँ एक ऐसे आदमी का भी ज़िक्र किया जा सकता है जिसने, अपने को बड़ा बनाने के लिये, बांस की टिकटियों पर चलना शुरू किया। लोगों ने उसका मज़ाक उड़ाना शुरू किया। लेकिन उसने पर्वाह नहीं की—टिकटियाँ उसके जीवन का अंग हो गईं। बीमारी और मृत्यु की स्मृतिएँ जहाँ आदमी को डाक्टर बनाती हैं, वहाँ वह घातक रूप भी अख़्तियार कर लेती हैं—अपनी जान देने की सम्भावना को दूसरों की जान लेकर दूर की जाती है, ग़लत तरीक़े से। अपने जज-पिता के बड़े-बड़े मिलने वालों को देखकर एक पुत्र के सामने उसका छुटपन दुःखदायी बन कर उभर आता। साथी बच्चों को इकठ्ठा कर वह भी अपने पिता की नक़ल करता—जज बनता, अपराधियों को दण्ड देता। एक दिन उसे सूझा, जज से

अधिक अपराधी बन कर वह पुलिस और न्यायाधीश को और भी अधिक छका सकता है। यहीं से उसका जीवन बदल गया और प्रसिद्ध डाकू बना ! सन्तति-निरोध के प्रसिद्ध समर्थक तथा प्रचारक डाक्टर नार्मन हेयर अपने पिता के ग्यारहवें पुत्र थे। अधिक बच्चों की वजह से उनकी शिक्षा-दीक्षा में उपेक्षा हुई। बड़े होकर वह सन्तति-निरोध के पक्षपाती बने। भाई-बहिनों के बीच असम तथा पक्षपात पूर्ण व्यवहार ने कतिपय समाजवादियों को जन्म दिया है। एक पत्नीव्रती पतियों का व्यवहार, बचपन में माता के साथ उनका जैसा सम्बन्ध होता है, उस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। माता के आञ्चल में मुँह छिपाने का जिन्हें अवसर नहीं मिला, मिला भी तो उसमें बाधा आई, वे क़सम खाकर एक पत्नीव्रती होते हैं। एक पत्नीव्रती न होकर वह स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक भी हो जाते हैं—माता पर एकाधिपत्य स्थापित करने वाले कारणों का इस तरह वह विरोध करते हैं। व्यक्तिगत पूञ्जीवाद के खिलाफ विद्रोह के रूप में भी वह अपने को व्यक्त कर सकते हैं—*परिस्थितिएँ और जीवन की अन्य घटनाएँ जिधर भी उसे मोड़ दें !*

पौरुष का स्खलन, खण्डित काम-जीवन, तत्सम्बन्धी कटु अनुभव—कल्पना द्वारा विकृत, केवल काल्पनिक अथवा वास्तविक, आगे चल कर अजब-अजब रूपों में दिखाई पड़ते हैं। नारी-पुरुषों का विभिन्न श्रेणी विभाजन करने तथा कामजीवन को 'एडजस्ट' करने के लिये दुनिया भर के आसनों को ईजाद करने वाले कोका पण्डित जैसे व्यक्ति इसी की देन हैं। एक ही नज़र में नारी को वश में करने वाले प्रेम वीर भी इसी ज़मीन पर खड़े होते है। आजीवन ब्रह्मचारी, त्याग-तपस्या, संयम और शरीर की सम्पूर्ण इन्द्रियों का दमन कर शून्य में विजय देखने

वाली महान आत्माएँ भी इसी की ऋणी हैं। दोनों ही सूरतों में, चाहे व्यक्ति प्रेम वीर बने या संयम वीर, वास्तविकता से मुँह मोड़ कर टेम्प-टेशन्स से उलझा जाता है—न सही प्रेम, अदावत ही सही। रस दोनों लेते हैं; टेम्पटेशन्स को, अपने-अपने तरीक़े से, दोनों ही आमंत्रित करते हैं—एक विरोध करने के लिये, दूसरा गले लगाने के लिये। टेम्पटे-शन्स की पूर्ति का यहाँ प्रश्न नहीं होता, वह तो जैसे नाटक का यव-निका पतन है। वास्तविकता के स्पर्श का मतलब है उपस्थित करना उन कटु तथा लज्जास्पद अनुभवों को, जिन्हें संभालने के लिये प्रेम या संयम वीर बनना पड़ा है। प्रेम वीर महोदय का काम है निरन्तर विजय करना, हीरोइन प्राप्त करना और उसे छोड़ देना—हीरोइनों की एक लम्बी क़तार का अपने लिये विलाप करने की कल्पना, निस्सन्देह, एक ग्रारड चीज़ है! संयम वीर महोदय के संयम के प्रयोग भी कम महान नहीं होते—निस्सङ्कोच उसकी तुलना उस शराबी से की जा सकती है, जो तोबा करने के लिए ही शराब पीता है!

बालक के आदर्श होते हैं उसके माता-पिता—अनुकरणीय प्रकाश-स्तम्भ, परिवार के आधार। लेकिन इन्हीं के संसर्ग में आकर उसमें अपने छुटपन की, हीनता की, दुःखद चेतना जाग्रत होती है। इस द्वन्द के संभालने के लिये वह विभिन्न तरीक़े अख़्तियार करता है। इस द्वन्द की पहली और सहज-स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है विरोधी दिशा में—सीधा उपाय यही है, हीन भावना को उभारने वाले कारणों को दूर कर दिया जाए। सेकेण्ड नेचर का, आत्मा का, भले-बुरे और पाप-पुण्य की पहचान कराने वाली चेतना का यहाँ से निर्माण होता है। जहाँ तक पारिवारिक व्यवस्था का सम्बन्ध है—हमारे आज के समाज का निर्माण इसी की ज़मीन पर हुआ है—यह विरोध पितृद्रोह

है, इसलिए अधर्म या पाप है। श्रद्धा और संस्कृति का फिर जन्म होता है। सभी धर्म, हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रगति, सन्तानों के इसी द्वन्द को संभालने के प्रयत्नों को लेकर चली है। इस द्वन्द को संभालने के लिये, उसकी सम्भावना को दूर करने के लिए बालक ने पिता की कल्पना को ऊपर चढ़ाना शुरू किया—वह अति महान है, पालक है, पोषक है, दया का सागर और कोमलता का आगार है। सम्भव-असम्भव, हर प्रकार की, आशाएँ उससे की जाने लगीं। सर्वज्ञाता और सर्वशक्तिमान वह बन गया—चाहे तो वह सब कुछ कर सकता है। उसके स्पर्श से मूक होए वाचाल और पङ्गु चढ़े गिरिवर गहन !

अति पर पहुँची हुई पितृभक्ति, श्रवण कुमार और राम जैसी के पीछे यह द्वंद, अपराधी आत्मा की यह प्रताड़ना, काम करती है। इससे द्वन्द कम नहीं होता, बढ़ अवश्य जाता है। वस्तु जगत का पिता इस कल्पना कसौटी पर सदा सही नहीं उतरता। जब-तब ओछा पड़ता रहता है। पुत्र के हृदय पर इसका गहरा आघात पड़ता है। इस आघात की प्रतिक्रिया उसकी पितृभक्ति को आगे भी बढ़ा सकती है, उसे पक्का पितृ-द्रोही भी बना सकती है, और रूप भी वह अख्तियार कर सकती है।

यहाँ एक प्रसंग याद आ रहा है। गांधी जी ने एक स्थान पर बीड़ी और शराब की तुलना की है। शराब के स्थान पर बीड़ी को उन्होंने अधिक हानिकर बतलाया है। कहते हैं, बीड़ी बुद्धि को तिमिराच्छन्न कर देती है। आदमी हवाई किले बनाने लगता है। इसके साथ ही एफिल टावर का—गगन-चुम्बी पेरिस के एक स्तूप का—ज़िक्र किया है। उसमें न कोई सुन्दरता है, न कोई कला, भोंडे रूप में खड़ा है। बीड़ी-पीने-जैसे दुर्व्यसनों के फल स्वरूप ही ऐसी चीजों का निर्माण होता है।

अपने बड़प्पन को सिद्ध करने का, पिता के सामने अपने को स्थापित करने का एक तरीका यह भी है। हवाई क़िले बनाना भी इन्हीं तरीक़ों में से एक है—जिस परिवार या दुनिया में हम रहते हैं, उससे विमुख होकर दूसरी दुनिया की सैर करना। बीड़ी के साथ एफ़िल टावर का उल्लेख, व्यसन के रूप में, कम महत्त्व पूर्ण नहीं है। एक और प्रसंग पर इसकी तुलना स्वरति, मास्टर्बेशन, से भी की गई है—शक्ति का विनाशकारी अपव्यय। सवर्गीय आचार, होमोसेक्सुएलिटी, भी इसी श्रेणी की चीज़ है। नारी का, जो वस्तुतः माता होती है, दोनों ही सूरतों में बायकाट कर अपनी अलग दुनिया बसाई जाती है। वासना के पात्र के रूप में दोनों ही नारी को नहीं लेते—इस रूप से भय खाते हैं। इस भय को दूर रखने का प्रयत्न करते हैं वह स्वरति और सवर्गीय आचार-द्वारा—नारी के बिना ही काम चल जाता है, पिता की प्रतिद्वन्दिता में आने की सम्भावना नहीं रहती। द्वन्द्व इस से दूर नहीं होता, उसका रूप बदल जाता है। उपयोगी रुप वह धारण कर लेता है। पदार्थ-पाठ और प्रेरणा-केन्द्र वह बन चलता है—सांस्कृतिक विकास तथा अन्य सुधारक वृत्तियों के लिए। स्वरति और सवर्गीय आचार भी इसी की ज़मीन पर खड़े होते हैं। सांस्कृतिक विकास नारी के श्रद्धा-रूप को स्थापित करता है, स्वरति और सवर्गीय आचार उसे नरक का प्रवेश द्वार घोषित कर अपनी अलग दुनिया बसाते हैं। झगड़े की जड़ नारी इस दुनिया में नहीं रहती, बन्धुओं का अखण्ड सहयोग स्थापित होता है!





व्यक्तित्व की विजय

लज्जा और सङ्कोच से भरे प्रकरण सभी के जीवन में आते हैं। अपराधी आत्मा की प्रतारणा से भी सभी का वास्ता पड़ता है। आज की पारिवारिक स्थिति में, वर्तमान सामाजिक ढाँचे में, यह अनिवार्य भी है। बचपन में ही नहीं, बड़े होने पर भी, थोड़े-बहुत अंशों में, उनका

अस्तित्व रहता ही है, लेकिन नयी परिस्थितियों से सामञ्जस्य स्थापित करने, जीवन के नये अनुभवों को प्राप्त करने के मार्ग में वह बाधा नहीं बनते—कम-से-कम इतना तो होना ही चाहिए कि अपराधी आत्मा की यह प्रतारणा बालहट की तरह हमारे साथ न लगी रहे, इस हद तक कि बीड़ी और शराब तक को ठीक पर्स्पेक्टिव में न देखने दे !

गाँधी जी के जीवन में अपराधी आत्मा की इस प्रताड़ना ने बहुत बड़ा पार्ट लिया है। बालहट की तरह वह उनके साथ लगी रही है और अब भी है। सबजेक्टिव आइडियलिज़्म, व्यक्तिगत आदर्श, के रूप में; ऑबजेक्टिव बलाइण्डनेस, वस्तु स्थिति को देखने की अक्षमता भी जैसी-की-तैसी क़ायम है। इन दोनों का साथ रहना अपने और दुनिया को धोखा देने में सफल होने पर ही हो सकता है। अपनी 'साइडशोज़' में वास्तविकता का, सामाजिक उपयोगिता का भ्रम पैदा करने में गाँधी जी खूब सफल हुए हैं—इस सफलता को स्थापित किया है उन्होंने सबजेक्टिव आइडियलिज़्म के ज़ोर से। सामाजिक उपयोगिता के रूप में आँकड़े और वस्तु-सत्य गाँधी जी के खिलाफ़ जाते हैं, आँखें खोल कर देखने पर उनकी निस्सारता साफ़ सामने आ जाती है, लेकिन फिर भी हम सहज ही विश्वास नहीं करते कि ऐसा हो सकता है—इसे स्वीकार करने की हमारी हिम्मत नहीं होती। कांग्रेस का इतिहास सम्पूर्ण करने के बाद पट्टाभि कहते हैं, कांग्रेस की प्रगति चक्करदार प्रगति रही है—जहाँ से चले, हर बार वहीं पहुँच जाते हैं। लेकिन, इस सहज विश्वास की हद देखिए, इस चक्करदार प्रगति की वह पहाड़ की चढ़ाई से तुलना करते हैं—चक्कर खाकर जिस तरह पहाड़ पर चढ़ जाते हैं, उसी तरह यहाँ भी चढ़ जाएंगे। अपने को और दूसरों को धोखा देने का इससे बढ़ कर प्रमाण और क्या होगा ! वह स्वीकार करते हैं कि सफलता के नाम

पर कुछ भी सामने रखने के लिए नहीं है—सिवाए असफलताओं के, लेकिन तबीयत फिर भी नहीं मानती, एक असफलता-पुराण रच डालते हैं। कहते हैं, "प्रत्येक असफलता केवल देखने में असफलता होती है, वास्तव में सफलता अनेक असफताओं का अन्तिम पटाक्षेप होती है!"

गाँधी जी ने इस चीज़ का पूरा फ़ायदा उठाया है। अपने को ही नहीं, औरों को भी उन्होंने अंधा बना दिया है—इस हद तक कि स्वयं गाँधी जी की कही हुई बातों को देखने से वह इन्कार कर देते हैं। उन्हें विश्वास नहीं होता कि गाँधी जी ऐसा कह सकते हैं। जैसे-तैसे अगर उनके सामने गांधी जी का कोई वक्तव्य रखा भी जाता है तो बड़े ही सहज विश्वास से वह कहते हैं, "लेकिन गांधी जी का यह मतलब कभी न रहा होगा—यह असम्भव है!"

वस्तुतः है भी कुछ ऐसा ही—गांधी जी जो कुछ कहते हैं, वह मतलब को स्पष्ट इतना नहीं करता जितना कि छिपाता है—वह जैसे एक परदा है, मतलब परदे में नहीं, उसके पीछे छिपी चीज़ में है। गांधी जी के वक्तव्यों के प्रत्यक्ष मतलब निकालना हमने छोड़ दिया है, छोड़ते जा रहे हैं। उनके प्रत्येक कार्य और वक्तव्य के पीछे अब हम 'रहस्य' को टटोलते हैं, सहज विश्वास के साथ कि निश्चय ही इसके पीछे कोई बड़ी बात छिपी हुई होगी—लीलामय का रहस्य किसने जाना है!

गांधी जी के पैटर्न के निर्माण में इस रहस्य ने भी बड़ा उपयोगी पार्ट प्ले किया है। यही वह अंधकार है, जिसके सहारे उनका प्रकाश आता है। इस रहस्य का अनुभव उन्होंने किया है जहाज़ में, दक्षिण अफ्रिका जाते समय। तूफ़ान आया था—काफ़ी ज़ोरदार। सब के चेहरों पर हवाइएँ उड़ने लगीं। मृत्यु सिर पर मंडरा रही थी, असहायावस्था और निराशा ने सब को घेर लिया था—एक ही स्वर सब के मुंह से

निकल रहा था ! गांधी जी के जीवन के अनुभवों में इसका बहुमूल्य स्थान है। तूफ़ान की उपयोगिता उन्होंने प्रत्यक्ष की है—सब को एक सूत्र में इसने बांध दिया। इसी तरह के 'रङ्गतदार' अनुभवों में महामारी और प्लेग के वीभत्स दृश्य भी हैं। बिहार के भूकम्प का जो और जिस तरह उन्होंने उपयोग किया था, वह भी प्रत्यक्ष है। अपने राजनीतिक गुरू गोखले की मूर्च्छा तक उनके बहुमूल्य अनुभवों में स्थान रखती है—इसलिए कि मूर्च्छा ने उन्हें गोखले जी की सेवा करने का अवसर दिया। उनकी ख्याति बढ़ी, साम्य स्थापित हुई, विरोधी व्यक्तियों को भी—साधारण अवस्था में जिन्हें वश में करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था—प्रभावित कर सके। गांधी जी ऐसे अवसरों की टोह में रहते थे। मान-अपमान का ख़याल न करके भी उन्होंने सेवा का रस लिया है। यह महान विपत्तिएँ गांधी जी के जीवन के रङ्गतदार अनुभवों में स्थान रखती हैं।

इन रङ्गतदार अनुभवों की उपयोगिता का गांधी जी ने बाकायदा प्रयोग किया है—उनकी टेकनीक का यह आवश्यक अङ्ग है। प्रकाश से पहले अंधकार की सृष्टि करने में वह कमाल करते हैं। असहायावस्था सब को एक सूत्र में बांध देती है। प्रकाश के लिए प्रकाशदाता की शरण में फिर सब जाते हैं, 'तुम्हीं ने दर्द दिया है, तुम्हीं दवा देना !'

दर्द और दवा की वस्तुतः यहाँ ज़रूरत नहीं होती—ज़रूरत होती है प्रकाश के महत्व को स्वीकार कराने की। इसकी पूर्ति के साथ दर्द ग़ायब हो जाता है—हो जाना चाहिए। नहीं होता तो निश्चय ही मरीज़ों ने अपथ्य किया है। दर्द और दवा का प्रसंग जैसे आता है, वैसे ही चला जाता है। कभी-कभी उसका नाटक भी रचना होता है। तब मालूम होता है, दर्द सिर के वास्ते चन्दन लगाना भी कम मुसीबत नहीं है—

पहली से बड़ी मुसीबत है। पहली मुसीबत ग़ायब हो जाती है, दूसरी उलझा लेती है। उसी पर सारी शक्ति खर्च होने लगती है। जैसे-तैसे उससे पिण्ड छुड़ा कर भारतमाता के हाथ लाल किए जाते हैं!

लेकिन गांधी जी के साथ जो आते हैं, वह गांधी जी रचित दर्द से प्रभावित होकर नहीं अपने वास्तविक दर्द से प्रेरित होकर आते हैं। गांधी जी इस दर्द का उपयोग करते हैं—उनके व्यक्तित्व की विजय में यह सहायक होता है इसलिए, न कि उनका दर्द दूर करने के लिए। व्यक्तित्व की विजय के बाद गांधी जी हाथ खींच लेते हैं। दर्द फिर भी बना रहता है तो यह दर्द का क़सूर है न कि उनका। इसका दुःखद पहलू तो यह है कि व्यक्तित्व की विजय भी उनका उद्देश्य नहीं होता। विजय की भावना से भी काम चल जाता है—भावनाएँ ही उनका जीवन होती हैं; वस्तु-जगत से दूर। भावनाओं में ही वह सब मूल्य आङ्कते हैं—आग की कल्पना से उनके हाथ जलने लगते हैं, पानी की कल्पना से जलन दूर हो जाती है। आग हो चाहे न हो, जलन का वह पूर्ण अभिनय कर सकते हैं। इतनी ही सफलता से बिना पानी के शीतलता का प्रभाव भी वह दिखा सकते हैं! महात्मा गांधी, निस्सन्देह, एक कुशल अभिनेता हैं!

ऐसे अभिनेता वास्तविक जगत के आवाहन को, जीवन के सत्य के स्पर्श को, व्यक्तिगत अपमान के रूप में लेते हैं—जैसे उनकी सत्ता को चुनौती दी जा रही हो। व्यक्तिगत अपमान और चुनौती की यह भावना—वास्तविक से अधिक जो कल्पित होती है—उनके लिए प्रेरक शक्ति का काम करती है। व्यक्तित्व की उपेक्षा, कल्पित या वास्तविक, उनके लिए पहली शर्त है। देशी रियासतों की समस्या बहुत पहले से चली आ रही थी, लेकिन गांधी जी ने अनशन किया अब, राजकोट को लेकर। सुभाष

बाबू के चुनाव को भी साथ में लिया जा सकता है—पट्टाभि की हार मेरी हार थी। अछूतों के लिए अनशन किया किया गया अम्बेदकर के सामने आने पर। गांधी जी के अल्टीमेटम, आज़ादी के युद्ध के अल्टीमेटम, घुटने टेक कर पेश किए गए आवेदन पत्र हैं। रोटी के बदले पत्थर, प्यार के हाथ के बजाए ठोकर की भावना का क्रम पूरा करना गांधी जी के लिए ज़रूरी रहा है, हालाँकि इसकी कतई ज़रूरत नहीं थी। घुटने टेक कर युद्ध-घोषणा करने के अपमान को गाँधी जी ने सहा—"जैसे कोई पाप-कर्म करने जा रहे हों, अपराधी आत्मा की प्रताड़ना। यह लज्जास्पद क्रम हद को पहुँचता है हण्टर-कमीशन को लेकर, पञ्जाब-हत्या-काण्ड की जाँच करने के लिए जो नियुक्त हुआ था। कांग्रेस ने इसका बायकाट किया, दूसरी जाँच-कमेटी स्थापित की। लेकिन गांधी जी से, कांग्रेस-जाँच-कमेटी के आधार-स्तम्भ से न रहा गया और वह हण्टर-कमेटी के सामने गवाही देने पहुँचा—आत्मा को हल्की करने के लिए जैसे यह ज़रूरी था!

लेकिन दृश्य एकदम बदल जाता है, जब हम गांधी जी को कांग्रेस के मीर बनने की शर्तें पेश करते देखते हैं। वहाँ वह घुटने नहीं टेकते, डिक्टेटर की तरह बोलते हैं। सन् बीस के आन्दोलन की शुरुआत कांग्रेस से अलग खिलाफ़त कमेटी बना कर होती है। गऊकशी और खिलाफ़त के सहारे हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक जोश को उभाड़ कर, हिन्दू-मुस्लिम-शक्ति को साथ लेकर, एक पैरेलल बॉडी के रूप में कांग्रेस के सामने आते हैं—कांग्रेस स्वीकार करे, न करे, वह अपना काम करेंगे। बारदोली-सत्याग्रह का भी यही क्रम रहा था। चम्पारन को भी काँग्रेस से अलहदा रखा गया—और, इसका नतीजा हमारे सामने है, गाँधी जी के व्यक्तित्व की विजय। उनका व्यक्तित्व काँग्रेस का व्यक्तित्व है, देश का व्यक्तित्व है। उनके व्यक्तित्व की विजय देश की विजय है, हार देश की हार है!

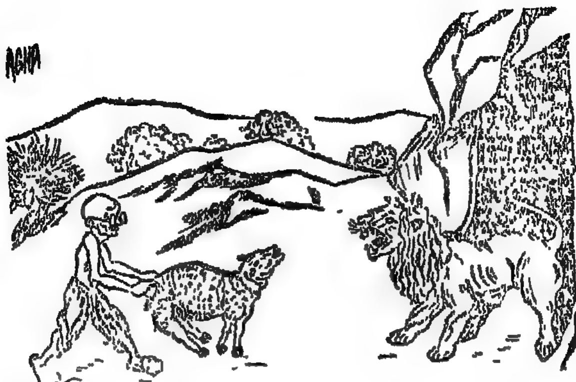
ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को युद्ध का अल्टीमेटम घुटने टेक कर दिया जाता है। कांग्रेस का तुच्छ सेवक डिक्टेटर बन कर हुआ जाता है। वाइसराय से समझौता करने के लिए, हृदय-परिवर्तन की 'भावना' का आभास पाने के लिए युद्ध स्थगित कर दिया जात है, जब कि अपने क्षेत्र के किसी प्रतिद्वन्दी के लिए कोई गुञ्जायश नहीं छोड़ी जाती— जन्म-जन्मान्तर के सैद्धान्तिक मतभेद बीच में आ जाते हैं। ओडायर के कर्तव्य-पालन की आप दाद दे सकते हैं, लेकिन किसी लड़के के पटाखा छोड़ने पर आप को खून-खराबा के दृश्य दिखाई देने लगते हैं। हण्टर कमेटी के सामने जा कर आप गवाही दे सकते हैं, लेकिन अपनी किसी भावना पर शंका प्रकट करना कुफ्र घोषित किया जाता है......!

और प्राणों की बाज़ी के साथ शुरू होने वाले यह आन्दोलन—उन्हें आज़ादी की लड़ाई का प्रहसन कहना ज्यादह ठीक होगा, बेढङ्गी और अनघड़ पैरोडीज़! मालूम होता है कि पितृभक्ति का कोई नया उम्मीदवार, नये मुसलमान की तरह, अल्लाह मियाँ की नज़रे करम पाने के लिए, जन्म-कुण्डली खोल कर सामने रख रहा है। चौबीसों घण्टे पिता की नज़र पर चढ़े रहने को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने वाले उत्साही पुत्र, पिता का ध्यान खींचने के लिए अपनी पितृभक्ति के रिकॉर्ड खोल कर जिस तरह रोना, मचलना, रूठना, भूखे रहना, ज़हर खा लेने या घर छोड़ भाग जाने की धमकी देना, अपने-आप पाँव में ठोकर मार कर ताली-ताली चिल्लाना शुरू करते हैं! इस तरह वह पिता का ध्यान ही नहीं आकृष्ट करते, और पुत्रों के सामने आदर्श, एक सबक़ भी बन जाते हैं। इसका एक पहलू और भी है—वस्तुतः असन्तुष्ट तथा विद्रोही पुत्रों को इस शैम-फाइट में उलझा कर वह अपनी उपयोगिता भी प्रत्यक्ष करते हैं, इस शैम-चेतावनी के साथ कि इस उपयोगिता के

दुरुपयोगिता में परिणत होने की भी सम्भावना हो सकती है !

गांधीजी का जीवन पिता के पैरों के चारों ओर मण्डराता रहा है—उनकी दुनिया जैसे यहीं आकर बस गई थी। उनके जीवन का जैसे यही एक उद्देश्य रहा है · पितृ-सेवा से अधिक पितृभक्ति का मॉडल जैसे वह बनने जा रहे हों। फलतः पिता की योग्य सन्तान बनने का, उनका स्थान पाने का अगर कोई योग्य अधिकारी है तो वह। इस अधिकार पर पहली चोट पड़ती है उनके मंझले भाई की तरफ़ से। उच्छृङ्खल तबीयत का वह था—पिता की उपेक्षा कर वह आगे बढ़ रहा था। गांधी जी उसकी स्वच्छन्दता को रश्क के साथ देखते हैं। कसक फिर पैदा होती है—इस स्वच्छन्दता का अगर कोई जायज़ अधिकारी है तो वह। अनधिकार चेष्टा उनका यह भाई कर रहा है। इस स्वच्छन्दता को गांधी जी भी, मन-ही मन, चाहते हैं, लेकिन हिम्मत नहीं होती—और ज़ोरों से पाँव दबाना शुरू करते हैं, जैसे पिता को फुसलाना चाहते हों। कसक फिर भी बनी रहती है। अपने भाई की तरह स्वच्छन्द होना वह चाहते हैं, लेकिन उसकी अनधिकार चेष्टा से अपने को सम्बद्ध करना नहीं चाहते। इसका वह एक रास्ता निकाल भी लेते हैं—अपने भाई के मित्र से गठबन्धन स्थापित करते हैं। आड़ ली जाती है उसका सुधार करने के शुभ उद्देश्य की। उपयोगिता-श्रय यहाँ उनके सामने आती है—स्वच्छन्द होने की इच्छा पूरी होती है; अनधिकार चेष्टा से वह बचे ही नहीं रहते, बल्कि उसके सामने एक सुधरा हुआ रूप रखने का भी साधन मिलता है; पुत्र होते हुए भी वह पिता का स्थान प्राप्त कर लेते हैं—अपने को अनुकरणीय बना कर। व्यक्तित्व की विजय का मार्ग प्रशस्त होता है, वह आगे बढ़ते हैं।





लाज की रक्षा

राजनीतिक क्षेत्र में गांधी जी ने गोखले को अपना गुरू माना है। दक्षिण अफ्रीका जब वह गए थे, तब गांधी जी ने माता की तरह उनकी सेवा की थी। रात को जब वह लेटे तो पाँव दबाने के लिए गांधी जी आगे बढ़े। लेकिन गोखले जी ने पाँव दबाने ही नहीं दिए, बल्कि नाराज़ भी हुए—अपनी छत्र-छाया से वञ्चित करने की हद तक। गांधी जी सन्न रह गए। गोखले जी के लिए यह प्रसंग क्षणिक था, पर गांधी जी के लिए नहीं। सेवा की उपयोगिता को गांधी जी जानते थे। बचपन में पिता के पाँव दबा कर वह अपने को उभार सके थे, बाद में भी इसकी उपयोगिता अनेक रूपों में उनके सामने आई। पिता के बाद अगर किसी के पाँव दबाने की ओर इस तरह गांधी जी झुके हैं तो वह गोखले जी की तरफ; लेकिन उन्होंने कन्नी काटी।

गांधी जी फिर भी लगे रहे—पाँव दबाने, सेवा करने के अवसर मिले उन्हें उस समय, जब गोखले जी को मूर्छा के दौरे होते थे। यह मूर्छा गांधी जी के लिए बहुमूल्य अनुभवों में स्थान रखती है और नौकरों के अलावा किसी और से अपना काम न कराना गोखले जी की एक कुटेव के रूप में!

इच्छा-पूर्ति के, अपने को पिता का योग्य अधिकारी और स्थानापन्न सिद्ध करने के, साधनों में मूर्छा की उपयोगिता सामने आई। समुद्री तूफान, प्लेग, महामारी भूकम्प-आदि भी उपयोगी ही नहीं, रंगतदार अनुभव बनकर हमारे सामने आते हैं। बीड़ी के स्थान पर शराब के विकार की श्रेष्ठता भी यहाँ स्पष्ट हो जाती है। और, यह कहने की ज़रूरत नहीं, गांधी जी के राजनीतिक हिस्टीरिया में इन सब का प्रभाव निस्संदिग्ध रूप से मिलता है—पूर्णरूपेण वह इन्हीं से ओत-प्रोत रहता है!

हिस्टीरिया, वस्तुतः, जीवन का कैरीकेच्योर होता है। भय और शङ्काओं की वजह से जो अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाते, न-ही उन इच्छाओं का काम चलाऊ दमन या उनसे समझौता स्थापित करने में समर्थ हो पाते हैं, वे हिस्टीरिया के शिकार होते हैं—दमित इच्छाएँ अति-विकृत होकर इस रूप में अपने को व्यक्त करती हैं। हिस्टीरिया की एक विशेषता और होती है। सहज-स्वाभाविक रूप में इन दमित इच्छाओं की पूर्ति में जो वास्तविक या आशङ्का-द्वारा अतिरञ्जित खतरा हो सकता था, वह इस में गायब हो जाता है—हालाँकि उसकी सम्भावना बराबर बनी रहती है। हिस्टीरिया के दौरे को देखकर दर्शक भयभीत और चिन्तित हो सकते हैं, लेकिन रोगी के लिए कोई खतरा नहीं होता—लगता है, आग से खेलते हुए भी

जैसे उसके हाथ नहीं जल रहे हैं। अचेतन मास्तिष्क का इतना ल्केवर मैनीफेस्टेशन होता है कि देखकर दांतों तले उंगली काटनी पड़ती है। इसकी तुलना, वाजिबी तौर पर, उन लोगों से की जासकती है जो बीमा कराने के बाद दूकान में आग लगा देते हैं। उधर आग लग रही है और इधर आप किसी बार में हिस्की के पेग ढाल रहे हैं। नीरो जैसे व्यक्ति भी इसी श्रेणी में आ जाते हैं—मात्राओं के कुछ अन्तर के साथ, एक क़दम आगे या पीछे।

गांधी जी के जीवन से इस हिस्टीरिया का घनिष्ट सम्बन्ध है, लेकिन दूसरे तरीके से। अचेतन मस्तिष्क में पहुँच कर इस हिस्टीरिया ने गांधी जी को अपना गुलाम नहीं बनाया, बल्कि गांधी जी ने उसे अपना गुलाम बना लिया है। अपनी इमारत खड़ी करने में वह उससे मज़दूर का काम लेते हैं। और सही शब्दों में इमारत से अधिक इमारत की भावना खड़ी करने में काम लेते हैं। भावनाओं के निवास के लिए यह भावनाकारी इमारत खड़ी होती है, हाड़-माँस की जीती-जागती स्थूल दुनिया को नज़रन्दाज़ करके, उसके मज़ार पर। हिस्टी-रिया के स्थान पर यदि गांधी जी ने हाड़-माँस वाले मज़दूरों की सहायता से इसी तरह कार्य किया होता, भावना को छोड़कर स्थूल इमारत तक उनकी पहुँच होती तो निश्चय ही वह नवराष्ट्र का निर्माण कर सकते थे—इससे भी आगे बढ़ने वाली शक्ति उनमें है। लेकिन ऐसा करना खुद अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारना होता, अपने जीवन के पैटर्न से इन्कार करना होता। वह ऐसा नहीं कर सकते थे, कर भी नहीं सकेंगे।

इस में कोई सन्देह नहीं, भावनाओं का स्थूल सत्य से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, भावनाएँ ही स्थूल सत्य की जननी होती हैं। यह सम्भावना, सहज

विश्वास के सहारे, गांधी जी को स्थापित करने में समर्थ हुई, लेकिन यह सहज विश्वास भी स्थूल सत्य की उपेक्षा पर आश्रित था—जनता के लिए यह एक एस्केप का साधन बना। वह नहीं देख सकी, उसने देखना न चाहा कि गांधी जी की भावनाओं और स्थूल सत्य में सहयोग की सम्भवाना नहीं है—दोनों विरोधी दल की चीज़े हैं। गांधी जी की भावनाओं का स्थूल सत्य के साथ उसी समय तक सहयोग स्थापित हो सकता है, जब तक कि स्थूल सत्य उनकी भावनाओं की ग़ुलामी स्वीकार करे। अपनी भावनाओं को स्थूल सत्य में नहीं, बल्कि स्थूल सत्य को वह अपनी भावनाओं में परिवर्तित करना चाहते हैं—स्थूल सत्य की, व्यङ्गमय प्रतिशोध के साथ, उपेक्षा करके। अहिंसा की भावनाओं की रक्षा के लिए वह प्रत्येक जीवित शक्ति की बलि देने के लिए तय्यार हो सकते हैं। स्थूल सत्य की उपेक्षा सीमा पार कर जाती है उस समय, जब कि वह, अपनी भावनाओं की रक्षा के सफल न होने पर, असफलता का कारण बलि-पात्र का सच्चा न होना घोषित करते हैं। उनका कथित रचनात्मक कार्य चर्खा और खद्दर की धुरी पर स्थापित है—भारतमाता के सब रोगों की एक मात्र दवा। इसके प्रचार के लिए उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाने में कसर नहीं छोड़ी है—अपनी ही नहीं, देश की भी। गांधी जी ने घोषित किया, हाथ के कते बुने खद्दर से देश को तोपा जा सकता है और प्रचारकों ने क़दम बढ़ाया। इस प्रचार-कार्य में एक स्थूल सत्य सामने आया। गांधी जी से कहा गया, भारतमाता की लाज ढकने लायक़ खद्दर नहीं बन पा रहा है। गांधी जी दुःखी हुए, अपने शरीर के कपड़ों पर नज़र डाली, कपड़े उतार कर अगोछा पहना और आगे से इसे ही अपनी पोशाक घोषित कर भारतमाता की लाज की रक्षा की—या अपनी भावना की

रक्षा के लिए भारतमाता की लाज को उघड़ा ही रहने दिया !

लाज की इस रक्षा का एक पहलू और भी है। अहमदाबाद का कांग्रेस अधिवेशन सुधारों के लिए प्रसिद्ध है। विभिन्नता पेश की गई है नागपुर के अधिवेशन को लेकर—सत्तर हज़ार रुपया फ़र्नीचर में व्यर्थ खर्च हुआ। इस व्यर्थ खर्च की कमी की गई दो लाख की खादी खरीद कर—तम्बू खीमों के लिए ! इस सुधार का सब से उल्लेखनीय पहलू यह है कि नागपुर कांग्रेस का सत्तर हज़ार का फ़र्नीचर और सुधरे अधिवेशन का दो लाख का खादी—दोनों ही हाथ के कते-बुने थे !



निर्बल का बल

मांसाहार के विरुद्ध भावनाएं जाग्रत होती हैं तो दूध तक वर्जित श्रेणी में आजाता है। उसका त्याग कर देते हैं। बाद में ब्रह्मचर्य और संयम के प्रयोगों के सहारे दूध में विकार पैदा करने का माद्दा देखते हैं। बुद्धि का उपयोग कर तर्क पेश करते हैं, "बचपन में माता का जितना दूध पी लिया जाता है, मेरा विश्वास है, इसके अलावा आदमी को और कोई दूध पीने की ज़रूरत नहीं रहती।" माता के सम्बन्धों में 'काम' की गुञ्जायश नहीं, इसलिए विकारों की भी नहीं। इसी वज़न का एक विश्वास और है—मासिक धर्म और स्वप्नदोषों में प्रकृति जो कुछ जितना स्खलित कर देती है, उसके बाद नारी-पुरुष का समागम रज और वीर्य का अपव्यय है!"

इस अपव्यय को सामने रख कर लाल झण्डी दिखाते रहने के बाद हिस्टीरिया को फिर लेलें—विशेष कर उसके मनोवैज्ञानिक पहलू को। दमित इच्छाओं का अचेतन मस्तिष्क-द्वारा व्यक्त होना हिस्टीरिया है। सचेतन अवस्था में जो सम्भव नहीं हो सका, उसे अचेतन मस्तिष्क सम्भव कर देता है—इतनी होशियारी और चतुरता के साथ कि दंग रह जाना पड़ता है। दमित इच्छाएँ केवल व्यक्त ही नहीं होतीं, प्रतिशोध की भावना भी पूरी हो जाती है—निष्क्रिय तरीक़े से। इसका विशेष उल्लेखनीय पहलू यह है कि पहले इन इच्छाओं की पूर्ति के कारण जो ख़तरा, काल्पनिक या वास्तविक, रोगी को व्यथित करता, वह अब रोगी के बजाए उसके सगे-सम्बन्धियों को व्यथित करता है। निष्क्रिय विरोध हिस्टीरिया का दूसरा नाम है।

महात्मा गांधी ने इस निष्क्रिय विरोध को—निष्क्रिय विरोध का एक यही प्रकार है—सक्रिय बनाया है हिस्टीरिया को अपना ग़ुलाम बनाकर, निष्क्रिय विरोध का अपने पैटर्न के लिए सफल उपयोग कर। इससे हिस्टीरिया का रूप नहीं बदला, वह जैसा का तैसा मौजूद है, लेकिन उसका उपयोग अनकान्शस, अचेतन, न रह कर कान्शस हो गया। इससे पहले कि गांधी जी किसी चीज़ का अपने पैटर्न में उपयोग कर सकें, उसका हिस्टीरिया में बदल जाना ज़रूरी है—पहले सहज स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होगा, निश्चय ही संयम और अहिंसा के नाम पर, उसके बाद वह उसका उपयोग कर सकेंगे। यही एक सूरत है जिसे वह उपयोगी समझते हैं—मुक्ति के लिये, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक—चाहे जैसी भी वह हो। शेष जो कुछ है, वह ग़लत और पथभ्रष्ट करने वाला है। गांधी जी को एक मोटर दीजिये। मशीन के चालू रहते उसकी कोई उपयो-

गिता हो सकती है, गांधी जी इसे स्वीकार नहीं करेंगे—स्वीकार करेंगे भी तो विनाशकारी उपयोगिता के रूप में। मोटर को अपने साथ रखना वह उसी हालत में स्वीकार करेंगे, जबकि उसकी मशीन ठप कर दी जाए—उसे निष्क्रिय बना दिया जाय। इसके बाद वह उसे धकेलना शुरू करेंगे, सवारियों से उतर जाने के लिए कहेंगे—मोटर को धकेलने के लिए। यदि कोई इसका विरोध करेगा तो वह उसे बातूनी कहेंगे, अपने समर्थन में ऐसी मिसालें पेश करेंगे, जहाँ मोटर की मशीन ने ऐन वक्त पर धोखा दिया है, काबू से बाहर होकर वह अपने पथ से भटक गई है दुर्घटनाएँ तक हो गई हैं। इस पर भरोसा नहीं किया जा सकता—किया भी जा सकता है तो मशीन को ठप करने के बाद। बिना ख़तरे के इस तरह मञ्ज़िले मक़सूद पर निश्चित रूप से पहुँचा जा सकता है। गांधी जी की समझ में यह सब नहीं आएगा कि सवारियों के नीचे उतर आने के बाद मोटर की उपयोगिता ख़त्म हो गई, उसे धकेल कर ले जाने से अच्छा यही है कि पैदल चल कर मञ्ज़िले मक़सूद पर पहुँचा जाए। लेकिन नहीं, वह इस पर बज़िद होंगे कि मोटर को धकेलना ज़रूरी है—मञ्ज़िले मक़सूद को सामने रख मोटर छोड़ना पथभ्रष्ट होना है। मञ्ज़िले मक़सूद कहीं भागी नहीं जाती, वह अपनी जगह पर ही रहेगी और अगर हम मोटर को धकेल सकें तो मञ्ज़िले मक़सूद के अलावा और कहीं पहुँचेंगे ही नहीं। धैर्य के साथ, अहिंसा और सत्य की शक्ति को लेकर इसे धकेले जाओ, यही ज़रूरी है। नहीं तो कुछ भी नहीं हो सकेगा, हम भटक जाएँगे, खतरे हमें चारों ओर से घेर लेंगे।

उपयोगिता के दर्शन करने का एक मात्र सही तरीक़ा यही है। जीवित और सबल शक्तियों को पहले कुण्ठित करना, उनके निष्क्रिय

हो जाने पर सक्रिय बनाना—पहले वह टांगें तोड़ देते हैं, इसके बाद बड़ी तत्परता से काठी बनवाते हैं, फिर कर्मवीर योधाओं की सृष्टि करते हैं। सहज सारल्य से, अपनी इन्फैंटाइल बुद्धि से, वह सोचते हैं, निष्क्रिय रह कर जब वह इतना कुछ बन सके हैं, अपने को अनुकरणीय बना सके हैं, तब औरों को क्यों नहीं बना सकते ! लेकिन वह भूल जाते हैं कि अपने जीवन के पैटर्न में निष्क्रियता का जो उपयोग उन्होंने किया है, वह उसे सक्रिय बना कर नहीं, बल्कि निष्क्रिय रूप में ही उसे अपना कर। राम का बल बनाने से पहले गांधी जी ने अपनी निष्क्रियता को सक्रिय नहीं बनाया, बल्कि उसे निष्क्रिय ही रहने दिया है। बस्तुस्थित से आँख फेर, साइडशोज़ के सहारे इस निष्क्रियता को ही निर्बल का बल उन्होंने बनाया है। इसका नंगा सत्य तो यह है कि इस निष्क्रियता को सक्रियता का जामा पहनाने के लिए जिन साइडशोज़ का वह सहारा लेते हैं, उनको भी वह गौण समझते हैं। प्रमुख निष्क्रियता ही है, साइडशोज़ गौण हैं। उनके जीवन के पैटर्न में निष्क्रियता शामिल हुई है, साइडशोज़ नहीं। सत्य का प्रकाश लेकर ढूँढने पर ऐसे उदाहरण शायद ही मिलें, जहाँ उन्होंने निष्क्रियता को सक्रिय रूप दिया है; जब कि ऐसे उदाहरण क़दम-क़दम पर मिलेंगे, जहाँ सक्रियता को निष्क्रिय उन्होंने बनाया है। जीवन की सक्रिय, सबल और सतेज शक्तियों को गांधी जी ने अस्वीकार किया है, उनसे वह दूर रहे हैं, सम्बन्ध रखा भी है तो उन्हें निष्क्रिय बनाने के लिए—बिना निष्क्रिय बने वह काम की नहीं हो सकतीं, घातक अलबत्त हो सकती है !

निष्क्रियता का सफल मॉडेल गांधी जी बने हैं —आश्चर्यजनक रूप में सफल। इस सफलता को, निस्संदिग्ध रूप में, इतर मानवीय

कहा जा सकता है— जैसे असम्भव को उन्होंने सम्भव कर के दिखा दिया है। इसका ट्रेजिक पहलू यही है कि इस सफलता का, निष्क्रियता को संभालने वाली सफलता का, गांधी जी उपयोग नहीं करते, उपयोग करते हैं इस निष्क्रियता का। इस निष्क्रियता को गांधी जी पहली शर्त मानते हैं—प्रत्येक सफलता के लिए, प्रत्येक प्रयोग के लिए, यहाँ तक कि प्रयोग और सफलता पीछे पड़ जाते हैं। सफलता और प्रयोगों की बात वह बाद में करेंगे—उनका ज़िक्र करने की ज़रूरत तक नहीं समझते—पहले निष्क्रियता की शर्त पूरी होनी चाहिए। इसके आगे वह कुछ नहीं देखना चाहते, कुछ नहीं सुनना चाहते—जैसे देख नहीं सकते, सुन नहीं सकते। देखने सुनने की सम्भावना से वह व्यथित हो उठते हैं, आशंकित विह्वलता उन्हें घेर लेती है—परेशानी और द्वन्द उन्हें बुरी तरह झंझोड़ डालते हैं।





अंधकार में प्रकाश

अंध-श्रद्धा और अटल विश्वास के साथ गांधी जी ने अपने जीवन के अनेक प्रयोग किए हैं। पहले उन्होंने हिस्टीरिया को उभाड़ा है, फिर उसे निष्क्रिय बनाने की आशा की है। इसके बाद आगे बढ़ने का नम्बर आता है। खूनी क़ानून का विरोध, गांधी जी ने देखा, अल्लाह की क़सम खाकर आसमान छूने लगता है, औरत की उंगली की छाप के पीछे लोग जान लेने और देने पर उतर सकते हैं, चट्टान से सिर टकरानेवाले अदम्य जोश को उभाड़ने के और तरीक़े भी,

इसी तरह के, गांधी जी के सामने आए। गांधी जी ने इन सब का उपयोग किया और फिर जैसे खो गए। प्रयोग करने के लिए जिस सीमा तक इन्हें रहना चाहिए था, उससे वह आगे बढ़ चले। सक्रिय गांधी जी उसे बनाना चाहते थे, लेकिन बीच की स्टेज गायब थी—पहले उसे निष्क्रिय बनाना था। यह स्टेज आने भी न पाई कि स्थिति हाथ से बाहर होने लगी। एक अजीब असहायावस्था गांधी जी को घेर लेती है। सरकार की वह मदद लेते हैं। समझौता होता है—जिस निष्क्रियता को वह स्वयं न पा सके, वह सरकार की मदद से आजाती है। प्रयोग को आगे बढ़ाने के अनुकूल वातावरण तय्यार होता है। गांधी जी को आश्चर्य होता है, दुःख होता है, जनता की नासमझी पर वह क्रोध प्रकट करते हैं। जनता नहीं समझती, सरकार से समझौता करने से अपमान नहीं, वरन् मदद मिली है—प्रयोग को सक्रिय बनाने के लिए निष्क्रियता की ज़रूरत थी। पाँव कटा कर दौड़ जीतने में जो विशेषता है—जिस आत्मिक बल की इस तरह विजय होती है—उसे यह क्यों नहीं समझते ? लङ्गड़े और अपङ्ग तो मजबूरी के कारण घिसटते हैं, लेकिन विशेषता इसमें है कि हट्टे-कट्टे आदमी पाँव कटा कर दौड़ जीतें ! कल अगर पाँव रखना जरूरी था, तो आज उनका कटाना और भी ज़रूरी है; लेकिन जनता प्रयोग की इस स्टेज का विरोध करती है। गांधी जी इस पर अज़िद रहते हैं—प्रयोग के लिए यह ज़रूरी है, साध्य की चिन्ता उन्हें नहीं होती। एग्रीमेन्ट पर दसों उंगलियों की छाप देने वह जाते हैं। हमला उन पर होता है। होंठ कट जाता है, पसलियों में चोट आती है। हिलने डुलने की सख्त हिदायत की जाती है। लेकिन वह एग्रीमेन्ट पर दस्तखत करने वाले पहले व्यक्ति होना चाहते हैं—प्रयोग की इस स्टेज का

मर्म उनके अलावा और कोई नहीं समझ पाता। मि० चिमनी काग़ज़ लेकर मिस्टर डोक के मकान पर आते हैं। गांधी जी उधर दस्तखत करते हैं, इधर मिस्टर चिमनी की (विरोधी दल के एक व्यक्ति की) आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। गांधी जी इन आँसुओं को लेकर गद्गद हो उठते हैं और...

यह आँसू—गांधी जी की जीत पर बहाए गए मि० चिमनी के यह आँसू—पता नहीं, गांधी जी इस चित्र को भी चित्रित करना चाहते हैं कि नहीं !

और महात्मा गांधी जी...? प्रयोग की इस स्टेज के पूरा होने पर उनकी असहायावस्था, उनका द्वन्द्व और भी गहरा हो जाता है। काग़ज़ पर लिख कर मिस्टर डोक की लड़की ओलिव को बुलाते हैं। आँखें बन्द कर, अर्द्धचेतन अवस्था में, सम्पूर्ण शरीर को शिथिल छोड़ देते हैं। दरवाज़े पर खड़ी होकर मिस ओलिव मन्द स्वर में गाना शुरू करती है—लीड काइण्डली लाइट !

अंधकार में से प्रकाश उत्पन्न करने के इस मंगल-प्रसंग की अगली स्टेज आती है दिव्य उल्लास को लेकर। जिस एग्रीमेन्ट को गांधी जी ने दसों उंगलियों की छाप से पक्का किया था, उसकी होली जलाने का दिन आते देर नहीं लगती। दो हज़ार से अधिक परवानों को गांधी जी ने "कढ़ाई में फैलाया, ऊपर से मिट्टी का तेल छिड़का और लगाई दियासलाई। एकाएक सारी सभा खड़ी हो गई, जब तक वे परवाने जलते रहे, सारी सभा ने मैदान को तालियों से गुंजा दिया !"

इस तमाम दृश्य के 'सुन्दर असर' की तुलना की गई है बोस्टन की होली से। अमेरिका निवासियों ने विरोध में चाय की अंग्रेज़ी पेटियों की

होली जलाई थी, ग़रीब भारतियों के पास तो सिवा अपने सत्य और परमात्मा के ऊपर श्रद्धा के और कोई हथियार था नहीं, इस लिए...

पर इस वाक्य को पूरा करने की हिम्मत हम में नहीं, महात्मा जी में है। दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने इस वाक्य को पूरा किया है—अपनी ही लेखनी से, अपने ही हाथ से। लेकिन इससे उनका आत्मविश्वास, प्रयोग करने का उत्साह पस्त न होकर और आगे बढ़ा, "भूखों मार कर और अपने प्रियजनों को भूखे मार कर युद्ध करने वाले संसार में विरले ही होते हैं।"

गांधी जी यहाँ भूल करते हैं। ऐसे व्यक्ति इस संसार बहुत हैं—यह अवश्य है कि वे महात्मा नहीं बन पाते! इस बिरली विशेषता से, निर्बल के बल से, विभूषित होकर गांधी जी भारत को अपनी प्रयोग शाला बनाते हैं। रौलट बिल को लेकर फैला हुआ तीव्र असन्तोष उन्हें इसका अवसर देता है।

गांधी जी बीमारी से उठे थे, पहली और सम्भवतः अन्तिम बार भी, गांधी जी धारासभा में गए। रौलट बिल के खिलाफ़ श्रीनिवास शास्त्री जी भाषण दे रहे थे। पूरे हाउस की आँखें शास्त्री जी की ओर फिरी हुई थीं। वातावरण में गर्मी और जोश भरा हुआ था—काफ़ी हाई पिच पर। शास्त्री जी के आक्रमण का प्रवाह अटूट था, हाउस के सम्पूर्ण सदस्यों के साथ वाइसराय की आँखें भी उन्हीं पर टिकी हुई थीं। लेकिन गांधी जी देख रहे थे वाइसराय के चेहरे की ओर—बड़े ध्यान से। उतार-चढ़ाव वाइसराय के चेहरे पर न थे, न वह द्रवित हुए, न मिस्टर चिमनी की तरह उनकी आँखों में आँसू आए, न ही वह शास्त्री जी को गले लगाने के लिए आगे बढ़े। वह स्तब्ध थे, स्तब्ध रहे।

वाइसराय की मुद्रा का गांधी जी ने गहरा निरीक्षण किया—रौलट बिल और तज्जनित असन्तोष तथा उसके विभिन्न पहलुओं से भी अधिक। गांधी जी को मालूम हुआ, उनके मन पर इसका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। "लेकिन," गांधी जी ने विश्लेषण करना शुरू किया, "सोए को जगाया जा सकता है। जो जागते हुए भी सोने का ढोंग करे, उसे कोई कैसे जगाए!" प्रहसन के रूप में गांधी जी ने इसे लिया—सोने के ढोंग से अधिक जगाने के प्रयत्नों को।

ट्रेजेडी में परिणत हो जाता है यह प्रहसन उस समय, जब स्वयं गांधी जी वाइसराय से खूब विनय करते हैं, खानगी और खुली चिट्ठियाँ लिखते हैं और अन्त में, कामेडी के ट्रेजिक हीरो की तरह, दुःख और व्यथा के साथ गहरी निश्वास प्रकट होती है—सत्याग्रह के सिवा और कोई रास्ता नहीं।

शरीर निर्बल, बोलने की शक्ति नहीं, देह कांपने लगती, छाती और पेट में दर्द—फिर भी गांधी जी मद्रास की लम्बी यात्रा करते हैं, उत्साह और जोश को लिए नहीं, वरन् निराशा और असहायावस्था के साथ। डूबता हुआ व्यक्ति, तिनके को देखकर, जिस आशा और उत्साह के साथ उसे पकड़ने के लिए दो-चार हाथ मारता है, उसी तरह गांधी जी आगे बढ़े—एकमात्र अवलम्ब सत्याग्रह को सामने रख कर। मद्रास में गांधी जी से कहा गया, एकमात्र अवलम्ब की रूप-रेखा से परिचित कराएँ, लेकिन वह अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।

रात को गांधी जी को नींद नहीं आती—कोशिश करके अर्द्धचेतन अवस्था में अपने को छोड़े देते हैं। तभी उन्हें जैसे स्वप्न होता है—हड़ताल, उपवास और आत्मशोधन की क्रियाओं से धर्मयुद्ध का श्रीगणेश होना चाहिए।

माता के व्रत-उपवासों का बचपन में गांधी जी पर गहरा असर पड़ा था। विलायत जाने पर गांधी जी ने माता जी के डाले हुये प्रभावों की विभिन्नता के दर्शन किए। इन्हीं में से एक यह भी है कि विदेशी प्रत्येक मंगल-कार्य की योजना टी-पार्टियों तथा सहभोज के अवसरों पर करते हैं। अर्धचेतन अवस्था में यह विभिन्नता उभर आती है—गांधी जी चमत्कृत होते हैं, जैसे खोई चीज़ पाली!

रविवार का दिन इसके लिए मुक़र्रर होता है—ईसाई धर्म के अनुसार धार्मिक कृत्यों के लिए शुभ दिन! आधी आत्मशुद्धि तो इस दिन के नियत होने से ही हो जाती है—शेष की पूर्ति होती है जलियाँ वाले बाग़ में!

जब कि गांधी जी यह नहीं चाहते थे। वह आशा करते थे, गोलियों के स्थान पर अश्रु-वर्षा की, मोती-बिन्दु के प्रेम बाणों की—चिर स्मरणीय आँसू, जो उन्होंने मिस्टर चिमनी की आँखों में देखे थे, जिनका दर्शन उन्होंने अपने पिता जी की आँखों में किया था।

गांधी जी विक्षुब्ध हो उठते हैं, जनता की उत्तेजना पर। तीन दिन का उपवास करते हैं। सत्याग्रह का पहला पाठ पढ़ाते हैं—सच्चा सत्याग्रही सरकार को विषम परिस्थित में नहीं डालना चाहता। लेकिन पाठ अधूरा रहता है—न लोग अपना गुनाह क़बूल करते हैं, न सरकार माफ़ करती है। त्रिशङ्कु-जैसी स्थिति गांधी जी की होती है। रोज़ पंजाब से अन्याय की ख़बरें आती हैं, गांधी जी को उन्हें सुनना और दांत पीस कर रह जाना होता है।

सत्याग्रह का पहला पाठ अधूरा रह जाता है—जनता की वजह से। गांधी जी इसे पूरा करने के लिए आगे बढ़ते हैं—जनता के अपराधों को उभार कर, उनके लिए प्रायश्चित का क्रम पूरा कर। एक चमत्कार

यहाँ और होता है—श्रीमती बीसेन्ट की ख्याति का रसातल की ओर जाना। बिना उपवास किए उन्होंने लिख दिया था—जनता ने भी तो पत्थर फेंके थे ! जिस बात को, कहीं अधिक तीखे और आवेशपूर्ण शब्दों में कह कर गांधी जी हीरो बने, वही श्रीमती बीसेएट को रसातल भेजने में समर्थ हुई—म्यान में एक ही तलवार रखने की जगह हो गई। इस चमत्कार का एक पहलू और है—जिस बात का समर्थन करके श्रीमती बीसेएट रसातल गईं, उसका विरोध करने पर दास को गाँधी जी के सामने हारना पड़ा ! फिर तिलक की मृत्यु ने रहा-सहा चमत्कार और पूरा कर दिया। फ़िनिशिंग टच दी न्यायाधीश ने—गाँधी जी को सज़ा देते हुए गाँधी जी के साथ तिलक का नाम सम्बद्ध कर। यह तुलना गाँधी जी के, काँग्रेस के, जीवन में ऐतिहासिक महत्व रखती है—व्यक्तित्व की पूर्ण विजय !





यदा-यदा हि धर्मस्य........

गुरु एक, चेले अनेक और प्रचारक असख्य—सत्याग्रह के अधूरे पाठ को वैज्ञानिक रीति से, पढ़ाने के लिए गांधी जी आगे बढ़ते हैं। टेकनीक में भी परिवर्तन होता है। अनेक चेलो और असंख्य प्रचारको को मैदान मे छोड़ अवकाश ग्रहण करते हैं—बड़ी शान से, पूर्ण विजय का टीका लगाए। गांधी जी और भी महान हो उठते हैं—इस सन्यास के कारण। अनेक चेले और असंख्य प्रचारक जयनाद कर उठते हैं—हरी-

भरी गृहस्थी को छोड़ जाने वाले वृद्ध का जनाज़ा धूमधाम से निकलता है, खील—बताशों की वर्षा के साथ !

सत्याग्रह के अधूरे पाठ को पूरा करने की तय्यारिएं चलती हैं। चर्खा कातो, हरिजनों का उद्धार करो, शराब पीना छोड़ो। खद्दर-प्रचार भी आगे आजाता है। इन तय्यारियों का अन्त हो जाता है उस समय, जब देश में तीव्र असंतोष पैदा होता है। इस असंतोष के कारण चर्खा, मद्य-निषेध या हरिजनोद्धार नहीं होते, यह असंतोष इनके खिलाफ़ होता भी नहीं, कारण होते हैं दूसरे। अहिंसा-यज्ञ में जैसे यह असंतोष बाधा डालता है। अनेक चेले और असंख्य प्रचारक त्राहि-त्राहि कर उठते हैं और-बापू, जैसे गज की पुकार सुन, स्निग्ध मुस्कराहट लिए, आकाश से उतरते हैं—अधूरे पाठ को हाथ में लिए, उसे पूरा करने के उद्देश्य से।

आत्मशोधन की क्रियाएँ एकाएक सामने आ जाती हैं—मालूम होता है, वातावरण भ्रष्ट हो गया है। पहले इसे शुद्ध करना होगा। साथ ही कोशिश होती है असन्तोष के कारणों को स्थानान्तरित कर उन्हें मुट्ठी में करने की। अनेक चेले और असंख्य प्रचारक काम आते हैं—असन्तोष गांधी जी के चारों ओर घूमने लगता है। जनता समझती है, यह उसी का असन्तोष है। धार्मिक युद्ध शुरू होता है। लेकिन सत्याग्रह का पाठ फिर भी अधूरा रहता है--मालूम होता है, सरकार विषम स्थिति में पड़ी जा रही है, मोती-बिन्दुओं के स्थान पर गोली वर्षा हो रही है। असन्तोष फिर अधूरे पाठ की मर्यादा से बाहर जा रहा है, सरकार के सहयोग की फिर ज़रूरत होती है, फिर समझौता होता है और अधूरा पाठ फिर अधूरा ही रह जाता है। गांधी जी सोचते हैं—आध्यात्मिक पाठ पार्थिव साधनों-द्वारा जनता तक नहीं पहुँचाया जा सकता—वह भ्रष्ट हो जाता है !

गांधी जी फिर अवकाश ग्रहण करते हैं—अनेक चेलों और असंख्य प्रचारकों को मैदान सौंप कर !

बचपन में, पिता के जीवित रहते, गांधी जी का माथा ठनकता है अपने मंझले भाई की उच्छृङ्खलता देखकर। पिता के प्रति उसकी उपेक्षा गांधी जी के सामने एक क़ाबिले रश्क, साथ ही दुखद चेतनापूर्ण, विभिन्नता पेश करती है। चौथे विवाह की अन्तिम सन्तान, दुर्बल और काजू-बाजू अस्तित्व के रूप में पैदा होने के कारण गाँधी जी अपने पिता को क्षमा नहीं कर सके थे। गाँधी जी अपने इस अभाव को पितृ-भक्ति की टेक दे कर सँभाल लेते हैं। पर मंझले भाई की उच्छृङ्खल विभिन्नता उन्हें बराबर कचोटती रहती है। इस खटक को दूर करने का वह दूसरा तरीक़ा अख्तियार करते हैं। भाई का सुधार न करके भाई के दोस्त का सुधार करना वह चाहते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है—सुधार का यह उद्देश्य गाँधी जी ने उधार लिया है, उन दिनों राजकोट में सुधार-आन्दोलन चल रहा था। घर वाले इसका विरोध करते हैं, लेकिन अपने सुधार-कर्म की ढाल पर सब के विरोध को रोक लेते हैं। कुछ ही क़दम आगे बढ़े होंगे, गाँधी जी कल्पना करते हैं, यह सुधार-कार्य पिता जी को विषम स्थिति में डाल सकता है—पिता के सिर पीट लेने का कल्पना-चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। माफ़ी नामा लिख कर सब्मिट करते हैं और मोती-बिन्दुओं की वर्षा के साथ जैसे सुधार-कार्य समाप्त हो जाता है।

स्थिति का विश्लेषण कर गाँधी जी जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह और भी उल्लेखनीय है। कहते हैं, "सुधार करने के लिए भी मनुष्य को गहरे पानी में नहीं पैठना चाहिए। जिनका सुधार हमें

करना हो, उनके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रता में अद्वैत भाव होता है। उसमें सुधार की गुञ्जायश बहुत कम होती है।"

यहाँ गांधी जी मित्र से, इसलिए भाई से, अलग हो कर ईश्वर से, आत्मा से, अपने को सम्बद्ध करते हैं—पिता-पक्ष की ओर वह खिसक जाते हैं। सुधार करने के लिए गहरे पानी में पैठना खतरनाक है—तैरने का अभ्यास समुद्र के किनारे जाकर रेती पर हाथ-पाँव पटकने से हो जाता है।

इसकी अगली स्टेज उपस्थित होती है उस समय, जब गांधी जी के पिता का देहान्त हो जाता है और गांधी जी के सामने अपने लिए जीवन-क्षेत्र चुनने का प्रश्न उपस्थित होता है। गांधी जी कहते हैं, "मैं तो डॉकटरी पढ़ना चाहता हूँ।"

बड़े भाई, जो वस्तुतः पिता के दाहिने हाथ होते हैं और जिनका सम्बन्ध छोटे-भाइयों से पिता के समान ही होता है, चौंक उठते हैं। कहते हैं, "हम तो वैष्णव हैं। हाड़-मांस नोचने का काम कैसे करें। बापू तो तुम को वकील ही बनाना चाहते थे।"

गाँधी जी भी यह जानते थे। डाक्टरों से इलाज कराना वह पसन्द नहीं करते थे—आपरेशन्स के खिलाफ़ तो विशेष रूप से थे। अगर वह जीवित होते तो गांधी जी इस इच्छा को कभी प्रकट नहीं कर सकते थे। इस विरोधी विस्फोट का एक समर्थन हो भी सकता है—गांधी जी अन्तिम समय में पिता की सेवा से वञ्चित रहे। यदि वह डाक्टर रहे होते तो सम्भव है, यह दुःखद अनुभव न होता। गांधी जी के मस्तिष्क की कितनी ही क्रियाएँ यहाँ व्यक्त होती हैं—पिता के प्रति विद्रोह भी, इसका निहित उपयोगी पहलू भी, और अपने भाई के साथ उनके भावी व्यवहार का निर्देश भी। इसकी तुलना की जा सकती है गांधी जी के

पहले विद्रोह से, सुधार-कार्य से और उसे लेकर निकाले हुए निष्कर्ष से। इस दिशा में एक प्रसंग और आता है। गांधी जी के बड़े भाई, पिता के नाम पर, गांधी जी को घर लौटाने की कोशिश करते हैं। गांधी जी जवाब देते हैं, "मैं वही कर रहा हूँ जो बापू चाहते थे। परिवार को ज़रा व्यापक करके देखें तो सब समझ में आ जाएगा।"

भाइयों से, सन्तान-सम्प्रदाय से, गांधी जी छिटक कर अलग हो जाते हैं—बापू-पद को सुशोभित करते हैं। सतर्क और सुयोग्य बापू बनने की उन्होंने कोशिश की है। इसी ज़मीन पर खड़े होकर वह अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मार्जिन लाइन को समझने के लिए फिर बचपन की ओर जाना होगा। अपने जिस मित्र का गांधी जी ने सुधार करना शुरू किया था, उसका साथ वह नहीं छोड़ते हैं—पिता को लेकर दुःखद अनुभव होने पर भी। दर असल यह दुःखद अनुभव वास्तविक था भी नहीं। एक भव्य दृश्य उपस्थित करने में वह एक उपयोगी साधन का काम देता है—रोने-मचलने के सहारे जिस तरह बालक पिता की गोदी में जा बैठता है। उसके साथ वेश्या के यहाँ जाते हैं, अपनी पत्नी को कष्ट देते हैं और इसी सिल्सिले में किए गए हिंसा के एक प्रसंग को तो गांधी जी आजतक नहीं भूले हैं। सम्बन्ध विच्छेद की नौबत यहाँ भी नहीं आती—यह सब गांधी जी के पैटर्न में उपयोगी सिद्ध होते हैं। वेश्या के यहाँ जाना व्यक्त करता है—गांधी जी कस्तूरबा पर ही निर्भर नहीं हैं। सतर्क होते हैं गांधी जी उस समय, जब यह स्टेज आगे बढ़ कर कस्तूरबा के चरित्र पर आक्षेप के रूप में परिवर्तित होता है—गांधी जी के अतिरिक्त अधिकार पर चोट पहुँचने की सम्भावना सामने आती है। यह सम्भावना जड़ पर, बापू-वाद की नींव पर, आघात करने वाली है—तुरत ही वह हाथ खींच लेते हैं।

बोअरों के धार्मिक-युद्ध में स्त्रियों ने भाग लिया था। नृशंस अत्याचार उनके साथ हुए थे। कामांध फ़ौजी उन पर हमला तक कर बैठते थे। असह्य आपत्तिएं उन पर आईं और उन्होंने, 'धीरज तथा आनन्द' के साथ उन्हें सहा। इस कष्ट-सहन की उपयोगिता से गांधी जी प्रभावित हुए—इस दृष्टि से कि यह कष्ट सहन और अत्याचार किंग एडवर्ड का हृदय पिघलाने में समर्थ हुए। इसका विशेष प्रभाव-पूर्ण पहलू यह है कि इन अत्याचारों की कथा किंग एडवर्ड तक स्वयं अंग्रेज़ों-द्वारा पहुँची। इस अद्भुत दृश्य की भव्य उपयोगिता से प्रभावित होकर गांधी जी लिखते हैं, 'यह दृश्य अद्भुत था। सच्चा कष्ट यदि सच्चाई के साथ सहन किया जाए तो वह पत्थर जैसे हृदय को भी पानी-पानी कर सकता है। यही सत्याग्रह की कुञ्जी है।''

इस भव्य उपयोगिता का चौंका देने वाला दृश्य उपस्थित होता है खूनी क़ानून के खिलाफ़ की गई एक विराट सभा में। सेठ हाजी हबीब, डेप्युटेशन के एक सदस्य, अपने भाषण में कहते हैं, "अगर मेरी औरत की छाप लेने के लिए कोई अधिकारी आवेगा तो मैं ज़रा भी अपने गुस्से को क़ाबू में न रख सकूँगा। उसे मैं वहीं जान से मार डालूँगा और मरूँगा।''

गाँधी जी सतर्क हो उठते हैं—गुस्सा क़ाबू से बाहर नहीं जाना चाहिए। हाथ खींच लेते हैं। भव्य उपयोगिता का फ़ायदा वह उठाना चाहते हैं, उसके प्रभाव से सम्पूर्ण संसार को चमत्कृत भी करना चाहते हैं, लेकिन हृदय पर पत्थर रख कर पीछे हट जाना होता है। अनुकूल अवसर की वह टोह में रहते हैं। गीता का कथन सामने आता है, यदा-यदाहि धर्मस्य...... द्वन्द और भी घनीभूत हो उठता है।





शुभ चौघड़िया

'आनन्द तथा धैर्य' के साथ कष्ट सहन करने की भव्य उपयोगिता का गांधी जी लाभ उठाना चाहते हैं, लेकिन तुरत ही उन्हें सतर्क हो जाना पड़ता है। पहली कोशिश वह यही करते हैं कि अविवाहितो और ब्रह्मचारियों को ही साथ में लें। लेकिन यह सत्य रह-रह कर उनके सामने उभर आता है कि नारी की हल्की-सी चीख पानी-पानी करने में जितना कारगर होती है, उतना लाठियाँ खाते-खाते ब्रह्मचारियों का बेहोश हो जाना नहीं। फिर जैसे ही इसके खतरे का ख्याल आता है,

वह हाथ पीछे खींच लेते हैं। यह द्वन्द गांधी जी को घेरता है और वह किसी अनुकूल रास्ते की टोह में रहते हैं। खुद महिलाएँ गाँधी जी के पास आती हैं, युद्ध में भाग लेने की अनुमति चाहती हैं और गांधी जी जैसे धर्मसङ्कट में पड़ जाते हैं।

आखिर इस धर्मसङ्कट से बचने का एक रास्ता निकल आता है — बिल्ली के भाग्य से जैसे छींका टूटता है। इससे धर्मसङ्कट ही दूर नहीं होता, बल्कि धर्मसङ्कट को उपस्थित करने वाले कारणों को दूर करने का भी मौक़ा मिलता है। भव्य दृश्य की उपयोगिता का जो खतरनाक और बापूवाद की जड़ पर चोट करने वाला पहलू था, उसे भी दूर करने का साधन मिलता है। इससे पहले स्त्रियों का जो बलिदान पुरुषों के लिए लज्जास्पद होता, वह अब 'वरदान' में परिणत होजाता है। नयी स्थिति में स्त्रियों का विशेष अपमान होता था। सीधी ज़िम्मेदारी हट गई। गांधी जी स्त्रियों के इस अपमान का उपयोग करते हैं—अपने धर्म-सङ्कट को हटाने के लिए, न कि इस अपमान को दूर करने के लिए। कहते हैं, "अब एक ऐसी घटना हुई, जिसको देखते-देखते यह मालूम होने लगा मानो स्वयं परमात्मा, अदृश्य रहते हुए, भारतीयों की जीत के लिए कोई सामग्री तैयार कर रहे हों।"

घटना इस प्रकार हुई। एक मुक़दमे में न्यायाधीश ने फ़ैसला दिया कि दक्षिण अफ्रीका में उसी विवाह के लिए स्थान है, जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है—अर्थात जो विवाह अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं है। नतीजा इसका यह हुआ कि सभी विवाह, क़ानून की दृष्टि में, रद्द क़रार कर दिए गए और भारतीय स्त्रियों का स्थान धर्मपत्नी का न रहा।

बड़ी तत्परता से गांधी जी ने इस अवसर का उपयोग किया। कहते हैं, "अब तो ऐसा समय उपस्थित हो गया कि शुभ चौघड़िया या शुभ तिथि की राह देखना असम्भव था—स्त्रियों का अपमान होने पर कैसे धीरज धरा जा सकता था!"

इस अपमान को ज़रा और पास से देखें। भारतीय स्त्रियों का धर्म पत्नीत्व क्या क़ानून की नोक पर स्थापित है? कानून के स्वीकार करने या न करने से क्या वह खतरे में पड़ जाता है? कानून की पुख्तगी की जहाँ ज़रूरत हो, वहाँ क्या धर्म पत्नीत्व अपने महत्त्व को क़ायम रख पाता है? वस्तुतः धर्म पत्नीत्व ख़तरे में नहीं पड़ा था, खतरा था विरासत का, व्यक्तिगत सम्पत्ति का, उत्तराधिकारी का— बापूवाद का!

धर्म-पत्नीत्व की रक्षा के लिए, नारीत्व के अपमान से विक्षुब्ध होकर गांधी जी महिलाओं का उपयोग करते हैं। गुजराती महिलाओं को जेल भेजते गांधी जी को हिचक होती है—विदेश में स्त्रियों को जेल भेजना हमें अनुचित मालूम हुआ। ट्रांसवाल की महिलाओं जितनी दक्ष भी वह नहीं दिखलाई देतीं। इसका एक समर्थन और भी था—उनका धर्मपत्नीत्व इतना सङ्कट में नहीं था, जितना कि ट्रांसवाल की महिलाओं का। इसका एक उल्लेखनीय पहलू और भी है—गांधी जी अन्य बहिनों से बातें करते हैं, जेल जाने की ऊँच-नीच समझाते हैं, लेकिन अपनी पत्नी से कुछ नहीं कहते। कस्तूर बा को यह बुरा लगता है, अन्य बहिनों पर उन्हें ईर्ष्या होती है और इसे वह अपने सौभाग्य का अपमान समझती हैं। वह कहती हैं, "मुझे दुःख होता है कि आप मुझ से इस विषय में कोई बात-चीत क्यों नहीं करते? ऐसी मुझ में क्या खामी है, जो मैं अन्य बहिनों की तरह जेल नहीं जा सकूँगी।"

इसका जो उत्तर गांधी जी देते हैं, वह और भी उल्लेखनीय है।

कहते हैं, "इसमें अविश्वास की कोई बात नहीं है। पर मुझे इस बात का आभास तक पसन्द नहीं कि मेरे कहने पर तू जेल गई।"

इसके बाद गांधी जी जो चित्र पेश करते हैं, वह उस चित्र से भिन्न नहीं है, जो गांधी जी ने पिता के सिर पीट लेने की कल्पना कर अपने सामने खड़ा किया था। अन्तर इतना ही है कि उस चित्र में गांधी जी के पिता के सिर पीट लेने की बात थी, यहाँ स्वयं गांधी जी के सिर नीचा होने की आशङ्का है। कहते हैं, "मैं यदि तुझसे कहूँ और तू जेल चली भी जाए, लेकिन अदालत में खड़ी रहते यदि तेरे हाथ-पाँव काँपें या तू कष्टों को बरदाश्त न कर सके तो इसमें मैं तुझे दोष तो न दूँगा, पर मेरी हालत क्या होगी? मैं फिर तुझे किस तरह अपने पास रखूँ और संसार में किस तरह मैं ऊँचा सिर कर के खड़ा रह सकूँगा?"

ऊँचा सिर करके खड़े रहने के अनेक प्रयोग गांधी जी ने अपने जीवन में किए हैं। इन प्रयोगों में आने वाली आशङ्काओं के लिए अनेक निषेधों की व्यवस्था भी उन्हों ने की है। धर्मपत्नीत्व की इस कसौटी के विभिन्न पहलू भी उनके जीवन में उभरे हैं। लेकिन अभी भव्य उपयोगिता को ही लेंगे।

"बहनों ने अपना काम शुरु कर दिया। इसका परिणाम बिजली का सा हुआ। दक्षिण अफ्रीका के तमाम भारतीयों की अब नींद टूटी और वे खड़बड़ा कर जाग उठे—नवीन चैतन्य ने उनमें प्रवेश किया।" इतना ही नहीं, वरन स्त्रियों के बलिदान ने भारत को भी जगा दिया, "सर फ़ीरोजशाह मेहता आज तक तटस्थ थे, सन १६०१ मे उलाहना देकर जिन्होंने मुझे समझाया था कि दक्षिण अफ्रीका नहीं जाना चाहिये—स्त्रियों की क़ैद का उन पर भी जादू का सा असर पड़ा।"

सत्याग्रह की कुंजी गांधी जी के हाथ में आ गई। इसी तरह एक

दिन स्वराज्य भी हाथ में आगया था। सन् २१ के यह वह दिन थे जब जनता आकाश की ओर आँखें लगाए स्वराज्य के टपकने की आशा कर रही थी। दमन का दौरदौरा था—प्रिन्स आफ़ वेल्स की आमद ने उसे और भी वीभत्स बना दिया था। गांधी जी का द्वन्द और असहाय अवस्था हाई पिच पर पहुँचे हुए थे—चारों ओर अंधकार उन्हें दिखाई देता था, प्रकाश की एक रेखा के लिए वह छटपटा रहे थे। सूरत के आश्रम में उन दिनों गांधी जी थे—न दिन में चैन मिलता था, न रात को नींद आती थी। इसी समय कलकत्ता से तार मिलता है—श्रीयुत दास की धर्मपत्नी, विधवा बहिन और माता जी की गिरफ़्तारी का। गांधी जी एकाएक उठ बैठते हैं, निराशा का स्थान स्फूर्ति ले लेती है। उद्गार प्रकट होता है, "स्वराज्य मुट्ठी में आगया। कहीं ऐसा न हो कि गिरिफ़्त ढीली पड़े और वह खिसक जाए!"

सर फ़ीरोज़शाह मेहता उलाहना देकर तटस्थ होगए थे, दास बाबू उलाहने के साथ-साथ सामने भी आडटे थे—स्वराज्य को कस कर हाथ में पकड़ लेना ही था!

स्त्रियों के कष्ट-सहन की भव्य उपयोगिता का यह एक ही पहलू है, वही जो जनता में जाग्रति फैलाने के साधनों से सम्बन्ध रखता है। इसी पहलू पर गांधी जी ने ज्यादह ज़ोर दिया है और कोशिश की है कि स्वपक्ष तक ही यह सीमित रहे—दास और फ़ीरोज़शाह के उलाहनों की व्यर्थता सिद्ध करने तक ही। इससे आगे बढ़ने पर खतरनाक पहलू उभरने की सम्भावना को गांधी जी ने बचाया है और जब-जब वह पैदा हुई है, उन्होंने क़दम वापिस फेरे हैं। रौलट बिल के विरुद्ध धर्म युद्ध शुरू करने से पहले आत्मशोधन की क्रियाएं की गईं थीं—हड़ताल-आदि द्वारा। शुरू में ही दंगे हुए। गुजरात में दङ्गा होने का कारण अनुसूया बेन की

गिरफ़ारी की अफ़्वाह था। इसी ने जनता को उत्तेजित कर दिया और इसी को लेकर गांधी जी से, अपनी आत्मा हल्की करने के लिए, गांधी-कमेटी के सर्वेसर्वा होते हुए भी, हण्टर-कमेटी के सामने गवाही दिए बिना नहीं रहा गया था!





मान-वस्त्र-हरण

दक्षिण अफ्रीका में किए गये बलिदानों की सफलता की सम्भावना का लेखा-जोखा गांधी जी ने लगाया है। उनका विश्वास है, और किसी का बलिदान सफल हुआ हो या न हो, लेकिन बहिनों का अवश्य हुआ। स्वाधीनता-प्राप्ति में स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक सहायक होती हैं। अहिंसा का अर्थ भी वे अधिक समझती हैं। सच्चे साहस और आत्म त्याग की भावना उनमें पुरुषों से अधिक होती है। आनन्द और धैर्य के साथ उनका कष्ट-सहन हृदय को पानी-पानी कर देता है। ब्रेल्सफोर्ड

के शब्दों में, "स्त्रियाँ आती ही गईं और जब यह कोमलाङ्गियाँ केसरिया साड़ी पहिन कर धरना देतीं तो लोगों के हृदय बात-की-बात में पिघल जाते !"

'उत्तेजना की डोज़' के रूप में गांधी जी उनके कष्ट सहन को लेते हैं और विशेष परिस्थितियों में ही इस डोज़ की व्यवस्था की अनुमति वह देते हैं। दक्षिण अफ्रीका में यह स्थिति उत्पन्न होती है उस समय जब बहिनों के अपमान का प्रश्न सामने आ जाता है, जब कि उनके मान-वस्त्र-हरण की सम्भावना सामने होती है। डांडी-मार्च के समय गांधी जी, खासतौर से, बहिनों के दूर रहने की हिदायत करते हैं। बहिनें गांधी जी पर ज़ोर देती हैं और इस तरह से उपेक्षित रहना वे अपने लिये अपमान समझती हैं। लेकिन गांधी जी के लिये इतना ही काफ़ी नहीं होता। भारतमाता का अपमान, भाई और बहिनों के आक्रमणकारी असन्तोष के लिये जैसे पर्याप्त कारण नहीं है मानों यह अपमान, अपमान नहीं है। नवसारी में पहली बार गाँधी जी इस सम्बन्ध में भाषण देते हैं। कहते हैं, "सरकार पर मेरा अब भी इतना विश्वास है कि वह बहिनों से लड़ाई मोल नहीं लेगी—भारत माता से ही सन्तुष्ट रहेगी—इसकी उत्तेजना देना हमारे लिये उचित न होगा। जब तक सरकार पुरुषों तक ही सीमित है, पुरुषों को ही लड़ना चाहिये, जब सरकार सीमोल्लंघन करे, तब भले ही स्त्रियाँ जी खोल कर लड़ें।"

माता के मान-अपमान का प्रश्न जैसे गाँधी जी की ज्युरिसडिक्शन से बाहर की चीज़ है। पहली स्टेज उनकी शुरू होती है अपने अपमान से। अन्य भाइयों का, देशवासियों का, अपमान भी काफ़ी नहीं होता—उसका अनुभव जैसे पहले वह खुद कर लेना चाहते हैं। बहिनों के लिये भी, अलग से, इसी क्रम की वह जरूरत समझते हैं। परिस्थितियों

का तक़ाज़ा इस क्रम की ज़रूरत नहीं समझता, लेकिन गाँधी जी के लिये यह जरूरी है।

एक बात और भी विचित्र है। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी धर्म युद्ध शुरू करते हैं। सरकार सब को पकड़ती है, दमन करती है और गाँधी जी को नहीं पकड़ती। गाँधी जी बहुत परेशान होते हैं, समझ में नहीं आता, क्या करें। इस अवकाश का उपयोग युद्ध को संगठित करने में वह नहीं कर पाते, सोचते हैं गिरफ़ार होने की और गिरफ़ार होना उनके लिये एक समस्या बन जाती है। बहिनों के उपयोग की बात याद आती है, लेकिन धर्म-सङ्कट सामने खड़ा हो जाता है। आखिर दैवी मदद की तरह, उनके मान-वस्त्र-हरण का निमित्त सामने आता है। वरदान और ईश्वर की अदृश्य सहायता के रूप में गाँधी जी इसे लेते हैं।

ऐसी ही स्थिति डांडी-मार्च के समय हुई थी। १२ मार्च को गाँधी जी ने कूच बोली, २६ फ़रवरी को 'मेरी गिरफ़ारी' शीर्षक से उन्होंने लेख लिखा, लेकिन सरकार ने गिरफ़ार नहीं किया। गिरफ़ार होना यहाँ भी एक समस्या बन जाता है। गाँधी जी परेशान होते हैं, युद्धस्थल से भाग कर जैसे जेल में छिप जाना चाहते हैं और सरकार है कि गिरफ़ार नहीं करती।

और गाँधी जी गिरफ़ार होते हैं उस समय, जब बहिनें मैदान में आ जाती हैं। पट्टाभि कहते हैं, "स्त्रियों के कारण सरकार चक्कर में पड़ गई। जादू की डण्डी घुमाकर शक्तियों का आवाहन करने की गाँधी जी की क्षमता ने सरकार को स्तब्ध कर दिया!"

पर यहाँ बहिनों के अपमान का प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ, न-ही उनके मान-वस्त्र का हरण हुआ, बल्कि खुद उन्होंने गाँधी जी को

मजबूर कर दिया। उनका उत्साह और जोश अदम्य था। शुरू से ही गाँधी जी ने उन्हें एक किनारे रख दिया था। नवसारी में भी वह उनके उपयोग का औचित्य नहीं समझते --जब तक कि सरकार उनके दामन पर हाथ न डाले। उत्साह और जोश लेकिन बना रहता है। उसका उपयोग गांधी जी जिस दिशा में करते हैं, वह उल्लेखनीय है। पहले तो वह उन्हें संयम का उपदेश देते हैं। तकली को हमेशा अपने साथ रखने के लिये कहते हैं—मान वस्त्र का हरण होने की सम्भावना उससे दूर रहेगी। स्पर्श से बहिनों को अपवित्र करने वाला कपड़ा पहले गुजरात के, सूरत के, बन्दर पर उतरा था, इसलिए उन्हें ही इसका प्रायश्चित करना है।

प्रायश्चित करने की क्रिया में संयम और शराब की दूकानों पर धरना देना प्रमुख है। विदेशी वस्त्रों के अपवित्र स्पर्श के सामने, सेफ़गार्ड के रूप में, अपनी तकली रखने की प्रतीक व्यञ्जना स्पष्ट है। इसके साथ-ही-साथ, आश्चर्य है, गांधी जी पुरुषों की शक्ति को ताड़ के पेड़ काटने में लगाते हैं। पहला पेड़ वह खुद अपने हाथ से काटते हैं, इस के बाद स्त्रियों की सभा में उपरोक्त आदेश देते हैं। ताड़ के पेड़ की प्रतीक व्यञ्जना भी स्पष्ट है, उसे काटने का लाक्षणिक अर्थ भी व्याख्या का मोहताज नहीं। यों, प्रत्यक्षत:, मद्यनिषेध को पूरा करने के लिये यह किया गया था—लेकिन पेड़ों को जड़ से उखाड़ने के बजाए उन्हें सिर्फ काटा ही जाता था—इस दृष्टि से बिल्कुल व्यर्थ प्रयास।

पेड़ काटने की प्रतीक व्यञ्जना एक दम बदल जाती है आगे चल कर—बहिनों के अपमान के, भीषण दमन के दृश्य उपस्थित होने पर। प्रेस-आर्डीनेन्स जारी होने पर गांधी जी पत्रकारों को आदेश देते हैं, "जब स्वतंत्रता देवी हमारा द्वार खटखटा रही है और उसे रिझाने के

८

लिए हज़ारों ने घोर यातनाएँ सहन की हैं, तो देखना, कोई यह न कहे कि मौक़ा पड़ने पर वे पूरे न उतरे! सरकार टाइप, मशीन-आदि ज़ब्त कर सकती है, परन्तु क़लम और ज़ुबान कौन रोक सकता है!"

'क़लम और ज़ुबान' की प्रतीक व्यञ्जना स्पष्ट है, स्वतंत्रता-देवी का स्वागत करने के लिए इन दोनों की उपयोगिता पर भी अभी कुछ नहीं कहना। ध्यान दिलाना है स्वतंत्रता देवी पर, जो आकर द्वार खटखटा रही है और जिसके स्वागत के लिए गांधी जी ज़ोर दे रहे हैं। भारत माता की जञ्जीरें यहाँ नहीं टूटती, यहाँ आती है स्वतंत्रता देवी—भारत माता की सन्तान!

यहाँ इसे और स्पष्ट कर दें। हजारों को रिझाने के लिये स्वतंत्रता देवी का वरदान महत्वपूर्ण है। सरकार के दमन का उल्लेख करते हुये पट्टाभि कहते हैं, "इस सारी प्रसव पीड़ा में पूर्ण स्वराज्य का जन्म हो रहा था, परन्तु इससे भारतमाता पहले से अधिक शुद्ध, बलवती और गौरवान्वित हो कर प्रकट हो रही थी।"

देश की यातनाएँ भारतमाता की प्रसव-पीड़ाएँ है, इनका मूल कारण है सरकार का दमन और जन्म हो रहा है पूर्ण स्वराज्य का, सब को रिझाने वाली स्वतंत्रता देवी का। निराश न होकर सन्तानों को अपनी क़लम और ज़ुबान को शक्तिशाली बनाना चाहिए।

सम्पादक की हैसियत से, कांग्रेस के इतिहास पर अपना वक्तव्य देते हुये, हरिभाऊ उपाध्याय, गद्गद होकर, उल्लेखनीय रूप में अपने को व्यक्त करते हैं। कहते हैं, "यह इतिहास, यह पुण्य-स्मरण, कांग्रेस माता का यह दूध पाठकों के जीवन को पवित्र, तेजस्वी तथा बलिष्ठ बनाएगा...."

हरिभाऊ जी को दूध पीता छोड़ कर आगे बढ़िये। श्रीमती बीसेण्ट

गिरफ़ार होती हैं। माण्टेगु अपनी डायरी में लिखते हैं, 'शिव ने अपनी पत्नी पार्वती के बावन टुकड़े किए और बावन पार्वती बन गईं'। पट्टाभि इसका उल्लेख करते हैं। श्रीमती बीसेण्ट को पत्नी के स्थान पर सुशोभित कर और आगे बढ़िये। मार्शल लॉ के वीभत्स दृश्य सामने आते हैं। क़सूर में भाइयों को नङ्गा कर टिकटियों पर बाँधा जाता है। कोड़ों की मार उन पर पड़ती है। सरे आम बाज़ार के चौराहों पर पशुता का यह ताण्डव होता है—क्लाइमैक्स पर पहुँचता है यह उस समय, जब नगर की वेश्याओं को बुला कर वहाँ खड़ा किया जाता है, उनके सामने कोड़े लगाये जाते हैं!

अब फिर वापिस चले चलिये वहीं, जहाँ हजारों को रिझाने के लिए स्वतन्त्रता देवी द्वार खटखटा रही है, क़लम और ज़ुबान में ज़ोर पैदा करने की जहाँ चेतावनी दी जा रही है। वेश्याएँ नहीं, इस बार स्वतन्त्रता देवी, दमन की प्रसव पीड़ से पैदा हुई भारतमाता की सन्तान, उनका स्वागत करने के लिये बढ़ी चली आ रही है!

और बहिनों का यह अपमान, उनका मान वस्त्र-हरण—२१ जनवरी, ३१ को बोरसद में, ठेठ गुजरात में, जलूस निकलने वाला था। जलूस निकलता है। पुलिस आक्रमण करती है। बहिनें ज़मीन पर गिर पड़ती हैं और फौजी बूट उनकी छातियों को रौंदते हुये आगे बढ़ते हैं। इससे भी जबर्दस्त घूंसा पड़ता है उस समय, जब पाँच दिन बाद, २६ जनवरी को, गांधी जी को छोड़ दिया जाता है—समझौते की बातें करेंगे!





रक्षा-कवच

दक्षिण अफ्रीका में बहिनों का धर्मपत्नीत्व खतरे में पड़ जाता है—इसलिए कि कनूनी आशीर्वाद से वञ्चित वह हो जाता है। लेकिन जहाँ काननूी आशीर्वाद प्राप्य है, वहाँ उसके उपयोग के गांधी जी सर्वथा विरुद्ध हैं—स्त्रियों को कभी भी न्याय की शरण में नहीं जाना चाहिए। अगर कभी किसी की शरण में जाने की आवश्यकता आ ही जाए तो अनाथालय और आश्रमों के दामन में मुँह छिपाना चाहिए—समाज के श्रीमन्तों ने उनके लिए समुचित प्रबन्ध कर दिया है।

एक अत्याचार-पीड़ित बहिन का केस गांधी जी के सामने आता है। उसके पति उसे बुरी तरह सताते थे। बेंतें मारना, घण्टों खड़े रखना, खाने को रोटी न देना, औंधी टांग देना तो उनके लिए जैसे 'सौभाग्यवती भवः' का आशीर्वाद देना था। वह और भी आगे बढ़ गए थे। वेश्याओं और पर-स्त्रियों को घर में लाकर श्रीमती जी को पत्नीत्व का पाठ पढ़ाते थे—हाथ-पाँव बांध कर उसे एक खम्बे से जकड़ देते, फिर उसके सामने अन्य स्त्रियों के साथ हास-विलास का अभिनय करते। वेश्याओं के सामने पुरुष-सत्याग्रहियों को नंगा करके कोड़े लगाने-जैसे दृश्य का यह दूसरा पहलू है। इस बहिन का समाचार पाकर गांधी जी दु:खित होते हैं, लेकिन, दूसरे ही क्षण, जैसे अंधकार को भेद कर प्रकाश की रेखा दिखाई देती है—कष्टों की आंच में तपी हुई नारी की स्वर्णिम कल्पना उनके सामने आ जाती है। बहिन को आदेश देते हैं, उसे अपने पति से अलग नहीं होना चाहिए। अलग रह कर वह अपने पति का हृदय-परिवर्तन नहीं कर सकेगी। ऐसा करने से, उल्टे, पति का सुधार असम्भव नहीं तो कष्ट-साध्य ज़रूर हो जाएगा—"समाज को इस रास्ते कदापि नहीं जाना चाहिए, पत्नी को तो किसी हालत में भी न्याय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। प्रस्तुत मामले में तो लड़की के माता-पिता उसका निर्वाह कर लेने में समर्थ हैं; लेकिन जिन सताई हुई स्त्रियों को यह आश्रय प्राप्त नहीं, उन्हें भी आश्रय देने वाली संस्थाएँ देश में दिन-दिन बढ़ रही हैं!"

फिर भी कानून की ज़रूरत है—पत्नियों के लिए नहीं, वरन इन संस्थाओं को आबाद करने के लिए। सुक़रात की तरह वहाँ बैठ कर वह विष का घूट पिएँगी, मीरा और दमयन्ती की तरह चर्खा चलाएँगी!

इस करालता का उपयोगी पहलू भी है। खास परिस्थितियों में यह

रक्षा-कवच का, नज़रे बद से बचाने वाले काले टीके का काम करती है। माता के हृदय की तरह कोमल, उसकी दृष्टि की तरह पवित्र वह उस समय हो जाती है। इस रक्षा-कवच के, काले टीके और माता के हृदय की पवित्रता के सहारे गांधी जी आग से खेलने की भी इजाज़त दे सकते हैं। तमाम बन्धन तब टूट जाते हैं, स्वच्छन्दता के उपयोग के दुर्लभ अवसरों का निर्माण होता है।

टाल्सटाय-आश्रम में गांधी जी बापू का पद सुशोभित करते हैं—'बालक-बालिकाओं के साथ दिन रात पिता के रूप में रहता था।' शरीर को सुधारने के लिए जिस तरह शारीरिक और दिमाग़ के लिए दिमाग़ी कसरत की ज़रूरत होती है, उसी तरह नैतिक कसरत के प्रयोग गांधी जी करते हैं। सच्चरित्रता का स्तम्भ स्थापित कर चढ़ती जवानी की तरंगों को उस पर चढ़ने-उतरने का काम सौंपते हैं। बदमाश समझे जाने वाले लड़कों को गांधी जी छांटते हैं। उनके साथ युवतियों को, साथ-साथ, नहाने के लिए झरने पर भेजते हैं—सत्याग्रह का मर्म समझा कर, मर्यादा की रेखाएँ खींच कर, माता के स्नेह से उन्हें मण्डित कर। जो कसर रह जाती है, उसे पूरा करते हैं खुद उनके साथ रह कर—परोक्ष-अपरोक्ष रूप में—'मेरी आँखें उनके साथ-साथ उसी तरह घूमती थीं, जिस तरह एक माता की आँखें अपनी लड़की के आस-पास घूमती हैं। एकान्त कहीं किसी को नहीं मिलता था। मिलता भी था तो कम-से-कम मैं तो वहाँ होता ही!'

ढलता हुआ यौवन, अधेड़ावस्था, माता के लिए, किसी भी स्त्री के लिए, दुःखद होती है और वह कोशिश करती है कि उसका पहले वाला रंग-रूप लौट आए। इस दुःखद भावना को संभालने का अवसर मिलता है अपनी लड़कियों के यौवन को देख कर, उनकी सुन्दरता के

आकर्षक प्रभाव को महसूस कर। कभी-कभी इस आकर्षक प्रभाव को महसूस करने के अवसरों का निर्माण भी कुछ माताएं कर चलती हैं—युवकों से उन्हें मिलने देती हैं और फूल के चारों ओर भ्रमरों को मण्डराते देख वह खुश होती हैं। बुरी नीयत उनकी नहीं होती, न-ही उनका उद्देश्य अपनी लड़कियों को आग में झोंकना होता है—निर्दोष आनन्द की उपलब्धि के लिए ही वह ऐसा करती हैं। प्रत्यक्षरूप में अपने को दूर रखने पर भी उनकी आंखें अपनी लड़कियों के चारों ओर मण्डराती रहती है—पूरी सतर्कता के साथ।

ऐसी माता लड़कियों को अपने गले का हार समझती है। हार के आकर्षण से दूसरे प्रभावित हों, ललचाई हुई दृष्टि से उसे देखें, यह वह अवश्य चाहती है, ऐसा होने पर उसे अपार आनन्द मिलता है, लेकिन हार का अपने से छिन जाना वह किसी तरह गवारा नहीं कर सकती। चारों ओर का वातावरण, सामाजिक तक़ाज़ा यदि उसे इसके लिए मजबूर करता भी है तो वह यही चाहेगी कि उसका हार और हार का भावी मालिक उसी की ज़ेर निगरानी रहें। हार की आब और आकर्षण को कम करने वाली जितनी भी चीज़ें उसके जीवन में आई हैं, उन सब को वह, विधि-निषेधों द्वारा, दूर रखने का प्रयत्न करती है। वह चाहती है, शाब्दिक अर्थों में इसका पालन करने के लिए चेष्टा करती है कि अपने हार से उसका जो सम्बन्ध रहा है, वही हार के भावी मालिक का हार से रहे। दुःखद स्थिति उत्पन्न होती है इसका व्यतिक्रम होने पर—तीखे मानसिक क्लेश का तत्र प्रादुर्भाव होता है। इस व्यतिक्रम को बचाने की लाख-लाख कोशिश की जाती है। कोशिश करने पर भी वह अनिवार्य हो उठता है तो, असहाय वेदना के साथ, उसके लिए गुञ्जायश छोड़ी जाती है—लेकिन उसी हालत में जब कि

यह व्यतिक्रम भी माता की ज़ेर निगरानी ही हो, छिपा कर कुछ न किया जाए।

यहाँ एक बुज़ुर्ग की याद आ रही है। मद्रास वह एक बार गए और वहाँ से बहुमूल्य अनुभव लेकर आए। जिस परिवार में वह ठहरे थे, उस परिवार की लड़किएं अपने विवाह और भावी वर के सम्बन्ध में अपने पिता से खुल कर बातें करती थीं। पिता भी निस्सङ्कोच बातें करते थे। उन्होंने अपनी लड़कियों को बताया कि कुछ भी छिपाने की ज़रूरत नहीं। जब कभी उन्हें साथी की ज़रूरत हो, वह अपने पिता से साफ़ कह दें। वह फ़ौरन विवाह का प्रबन्ध करा देंगे। लेकिन कुल में कलङ्क किसी हालत में न लगाएं। इसका लड़कियों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। बुजुर्ग महाशय ने बताया कि जब कभी वह लड़किएँ किसी युवक को देखतीं तो उन्हें पिता की मूर्ति दिखाई पड़ती—प्रत्येक युवक उनके सामने पिता बन कर खड़ा हो जाता और इस तरह से वह अपने को धर्म-सङ्कट से दूर रख सकीं।

बुज़ुर्ग महोदय ने अपने लड़के के साथ भी यही प्रयोग किया। उसे समझाया कि जब भी वह चाहे साफ़ साफ़ कह दे। उसका विवाह कर दिया जाएगा। लेकिन इससे पहले अखण्ड ब्रह्मचर्य का उसे पालन करना चाहिए। लड़के पर इसका अद्भुत प्रभाव पड़ा और उसने, बुजुर्ग के शब्दों में, अद्भुत शक्ति का परिचय दिया। जवान होने पर, एक दिन एकाएक, वह कालेज से घर नहीं लौटा—एक दिन, दो दिन, कई दिन बीत गए। कुछ पता नहीं चला। आखिर कई दिन बाद कलकत्ते से उसका पत्र मिला—"आप अपना वायदा पूरा करते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो मैं जापान जा रहा हूँ।"

वायदा पूरा कर दिया गया—विवाह होगया। लड़का घर आगया।

कुछ दिन रहा, फिर भाग गया। घर आना और फिर भाग जाना के जैसे उसे दौर आने लगे--पिता की शुभ दृष्टि से पीछा छुड़ाने के लिए!

पिता परेशान होते हैं, लड़के को क्या होगया है; कभी भी उससे कुछ नहीं नहीं छिपाया, जब उसने चाहा, उसका विवाह कर दिया और अब भी, ऐसी कौनसी चीज़ है जिसका प्रबन्ध वह न कर सकें...?

गांधी जी, माता रूप अख्तियार कर, लड़कियों को बदमाश समझे जाने वाले लड़कों के साथ झरने पर भेजते हैं। एक साथ सुलाने का प्रयोग भी वह करते हैं। रक्षा कवच के रूप में उनकी मातृ-दृष्टि बालक बालिकाओं के चारों ओर रहती ही है। सत्याग्रह का परिचय भी वह पूरी तरह कराते हैं, मर्यादा-धर्म समझाने में भी वह पीछे नहीं रहते। लेकिन फिर भी पतन के समाचार मिलते हैं। गांधी जी मर्माहत हो उठते हैं। सत्याग्रह-युद्ध की असफलता के समाचार जहाँ केवल चोट करके रह जाते थे, वहाँ पतन के समाचार वज्र प्रहार सिद्ध होते हैं। रात-भर नींद नहीं आती। द्वन्द बुरी तरह परेशान करता है। सोचते हैं, किस कवच से युवतियों की रक्षा की जाए? ऐसी उनमें क्या बात पैदा की जाए जो उनके साथ रह कर युवकों में विकार उत्पन्न न हों?

सुबह होते-होते एक उपाय गांधी जी को सूझता है—प्रकाश की रेखा दिखाई पड़ती है। उन युवतियों को बुलाते हैं। कहते हैं, "मुझे अपने लम्बे काले सुन्दर केश काटने की अनुमति दें।"

माता के हृदय की कोमलता को बापू की करालता घेर चलती है। कैंची मँगाते हैं और उनके सुन्दर बाल काट डालते हैं। लेकिन द्वन्द इतने पर ही शान्त नहीं होता—खुद व्रत रखते हैं, लड़कियों से रखाते हैं और लड़कों से ब्रह्मचर्य पालन करने का वचन लेते हैं।

चित्र का दूसरा पहलू पेश किया है श्रीमती पोलक ने। प्रायश्चित

की इन क्रियाओं की सत्यता से वह प्रभावित नहीं हो सकीं—बापू की पीठ-पीछे के दृश्य उन्होंने देखे। प्रायश्चित क्रम पूरा होने के बाद बापू श्रीमती पोलक को आदेश देते हैं, उस युवती से जाकर मिलें, बातें करें—ज़ात-बिरादरी में उसे मिलालें। श्रीमती पोलक असमञ्जस में पड़ती हैं। बापू के ज़ोर देने पर वह जाती हैं, लेकिन उनका साहस नहीं होता कि युवती से कुछ कहें—ज़बान रुक जाती है। आखिर वह युवती ही बातें करती है—श्रीमती पोलक को लेक्चर पिलाना शुरू करती है, आश्रम में चाय-निषेध को लेकर!

गांधी जी और भी सतर्क हो उठते हैं—इस हद तक कि सिवाए अपने आश्रम में किसी और को रहने योग्य नहीं समझते। इस दिशा में और आगे बढ़ते हैं—आश्रम की सादगी में उन्हें मोह के दर्शन होते हैं और अगली स्टेज पर आश्रम के मायामोह को धूलि-धूसरित होते हम देखते हैं। लगता है जैसे कोई माता अपने जारज पुत्र को, अपने दामन को साफ़ रखने के लिए, छोड़ कर चल दी है—जीवन की बड़ी-बड़ी बाधाओं से सुलटने के लिए!

"पति, पति, यह 'पति' तो एक हमान विपत्ति हो पड़ा है!" एक युवती गांधी जी को लिखती है," अगर आप लड़की के रुप में पैदा हुए होते तो यह सब देखकर आपका खून खौल उठता!"

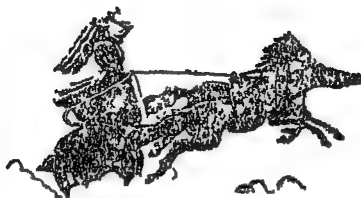
गांधी जी इस बहिन की ग़लत फ़हमी को दुरुस्त करते हैं, "पुरुष स्त्री-जाति पर जो अत्याचार कर रहे हैं, उन्हें देखकर खून खौलने के लिए मुझे लड़की के रुप में पैदा होने की आवश्यकता नहीं है।"

मुक्त कण्ठ से गांधी जी पुरुष के अत्याचारों को स्वीकार करते हैं, इस हद तक कि जैसे यह एक स्वयं सिद्ध चीज़ हो और इसका ज़िक्र करना पिसे को पीसना हो। पुरुष अपने-आप में इतना अपवित्र और

दूषित होता है कि नारी का स्पर्श तक करने का उसे अधिकार नहीं। लेकिन दुःख इस बात का है कि पुरुष की इस दयनीय दुर्बलता का लाभ उठाकर, उसे सामने रखकर, नारी समान अधिकार की माँगें पेश करती है, विरासत का हक़ चाहती है, तलाक़ का प्रस्ताव पेश करती है, क़ानूनी संरक्षणों का आन्दोलन करती है। नारी अबला है सही, लेकिन कष्ट-सहने की उसकी क्षमता उसे सबला बना देती है, पत्थर का दिल तक वह पिघला सकती है—"अपने यौवन-धन, अपने सौन्दर्य और अपनी तमाम आकर्षण-शक्ति को लेकर एक अबला भारी से भारी पुरुषार्थ साध सकती है।" पुरुष के अत्याचार उसे मौका देते हैं अपनी क्षमता को सिद्ध करने का, ईश्वर प्रदत्त विशेषता के उपयोग का—इनके सहारे समस्त संसार के सामने वह पदार्थ-पाठ बन सकती है!

खून खौलाने वाले अत्याचार वरदान बन बैठते हैं। पदार्थ-पाठ बनने में जो असमर्थ रहें, उन्हें रास्ता दिखाया जाता है अनाथालय और सेवा सदनों का। करालता चरम सीमा पर पहुँचती है उस समय जब वैधव्य को प्रकृति-प्रदत्त वरदान घोषित किया जाता है—"विधवा, जिन्हें कुदरत ने ही ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी है!"





गंगा-जमुनी

कष्ट-सहन-द्वारा विजय प्राप्त करने का पदार्थ-पाठ गांधी जी ने कस्तूरबा से पाया है। विलायत से लौटने पर गांधी जी बा को घर से निकाल देते हैं—मनोरथ पूरा करने में बाधक होती थीं, इस लिए। वह मायके चली जाती हैं और फिर, काफ़ी रुलाने और पीड़ा पहुँचाने के बाद, कड़ी शर्तों के सहारे अपने पुरुषत्व को स्थापित कर उसे अपने साथ रखते हैं। यह प्रसंग गांधी जी के लिए आज भी लज्जा का विषय बना है। दक्षिण अफ्रीका में इस प्रसंग की पुनरावृत्ति

होती है—इस से भी अधिक तीखे रूप में। पहले वह मायके में शरण पा सकी थीं, लेकिन यहाँ तो घर से बाहर का संसार उनके लिए अंध-कारमय था। एक अन्तर अवश्य हो गया था—लज्जास्पद प्रसंगों को पुण्यस्मरणों का रूप देने की गांधी जी की क्षमता दिन-दिन विकसित होती जारही थी।

डरबन में गांधी जी गृह-व्यवस्था के अनेक प्रयोग करते हैं—स्वयं कुलपति बन कर। इसका दुःखद पहलू यही है कि कस्तूरबा को कुलपत्नी नहीं बना पाते। इतना ही नहीं, वरन् इस रोल को भी खुद ही अख्तियार कर लेते हैं—माता की दृष्टि अपना कर। एक तरह से बा को पत्नीत्व के सिंहासन से खिसका देते हैं, वञ्चित कर देते हैं। अवश भाव से बा इसका विरोध करती हैं—आँसू बहाने के अवसर जब-तब आते रहते हैं। किसी भी जीवन-संगिनी, साथी या साथिन के लिए, यह स्थिति दुःखदायी हो सकती है। इसकी तुलना, मूलतः, उस पत्नी के दुःख से की जा सकती है, जिसका पति खम्बे से जकड़ने के बाद पर-स्त्रियों से उसके सामने हास-विलास का अभिनय किया करता था। गांधी जी इस अभिनय को काम-वासना की तृप्ति से सम्बद्ध करते हैं, लेकिन वस्तुतः काम-वासना की तुष्टि की अक्षमता इस का कारण है—यह बर्बर कृत्य, ग़लत तरीक़े से, पत्नी पर पुरुषत्व का रौब ग़ालिब करने के साधन बन कर सामने आते हैं, "ब्याह के बाद शीघ्र ही पता चला कि उसके स्वामी दिन-दिन निर्बल होते जारहे हैं।" इस निर्बलता की ज़मीन पर अभागनी बहिन के अत्याचारों की इमारत खड़ी होती है।

डरबन का घर सराय बन चला था। विभिन्न प्रकार के, विरोधी स्वभाव और संस्कारों के, व्यक्तियों को रख कर गांधी जी प्रयोग कर

रहे थे। इन प्रयोगों ने कस्तूर बा को पीछे डाल दिया था। मन मसोस कर फिर भी वह साथ दे रही थीं। लेकिन एक हरिजन के पेशाब का बरतन उठाने का गांधी जी का अनुरोध कस्तूरबा को असह्य हो उठा। गांधी जी का अनुरोध और भी तीखा हो उठता है और अन्त में पुण्यस्मरण की सृष्टि होती है, चित्रित करने लायक़ एक और दृश्य गांधी जी के जीवन में उपस्थित होता है—"आँखों से मोती की बूँदें टपक रही हैं, एक हाथ में बरतन, लाल आँखों से उलाहना देते हुए सीढ़ियों से उतरना।"

बस यहीं पर नहीं होती। कठोर शिक्षक बन कर प्रेम को चार चाँद लगाने का प्रयत्न अगले क़दम पर होता है। महज़ बरतन उठाने से ही सन्तोष नहीं होता, हँसते-हरखते भी कस्तूरबा को देखना चाहते हैं। कोड़ा मार कर गुदगुदाते हैं, "यह बखेड़ा मेरे घर में नहीं चलेगा!"

यह बोल तीर की तरह लगा। फफक-फफक कर बा ने हँसना-हरखना शुरू किया, "तो यह लो अपना घर, मैं चली।"

और गांधी जी हाथ-पकड़ कर बा को घर का दरवाज़ा दिखाते हैं। आँखों में गांगा-जमनी के दर्शन करते हैं। बा कहती हैं, "तुम्हें तो कुछ शरम नहीं, लेकिन मुझे है। मैं ठहरी स्त्री जाति, यहाँ कहाँ जाऊँ। तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी..."

इसके बाद जो चित्र पेश होता है, वह भी चित्रित करने लायक़ है, "मैंने चेहरा तो सुर्ख बनाए रखा, लेकिन मन में शरमा ज़रूर गया!"

इस शरम की अगली स्टेज और भी महत्वपूर्ण है—"जब पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी तो मैं उसे छोड़ कर कहाँ जा सकता था। अद्भुत सहनशीलता से उसने मुझ पर विजय पाई।"

इस विजय को, अपने पैटर्न के लिए, उपयोगी बना पाते हैं बा

अपने से दूर फेंक कर, पत्नी से अधिक उसे माता बना कर, पति से अधिक खुद पुत्र बन कर। अगली मधुर स्मृति में पति का यह अधिकार-प्रदर्शन बालहठ बन कर आता है।

संयम की दृष्टि से गांधी जी अन्नाहार प्रयोग करते हैं। कहीं पढ़ा था कि नमक खाना मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं। दाल का निषेध भी इसी तरह उनके सामने आचुका था। सोचते हैं, "इन्हें छोड़ने से ब्रह्मचारी को भी लाभ होगा।" लेकिन, वस्तुतः, इसकी एक भूमिका और है—पहली बार गांधी जी जब जेल जाते हैं, कैदियों के वास्ते करी पाउडर और खाना बनाते वक्त नमक डालने की मांग पेश करते हैं। जवाब मिलता है, "आप लोग यहाँ स्वादिष्ट चीज़ खाने के लिए नहीं आए हैं।" जेल से छूटने के बाद गांधी जी अलोना भोजन खाने का प्रयोग करने की सोचते हैं—संयम के नाम पर। सौभाग्य से कस्तूरबा उन दिनों बीमार भी होती हैं। नमक-विरोधी साहित्य उन्हें पढ़ कर सुनाते हैं—"मैं ने उसे समझाने में हद करदी, पर वह नहीं मानती थी। अन्त को उसने झुंझला कर कहा, 'दाल और नमक छोड़ने के लिए आप से भी कोई कहे तो न छोड़ेंगे।"

अपने प्रेम का परिचय गांधी जी देते हैं, एक साल तक नमक छोड़ने की प्रतिज्ञा लेकर। बा को बड़ा पश्चाताप होता है। वचन वापिस लेने का अनुरोध करती हैं, "मुझे माफ करो। आप का मिज़ाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुंह से निकल गई।"

गांधी जी अटल रहते हैं—प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती। आँसू बहाती बा कहती हैं, 'आप तो बड़े हठी हैं। किसी का कहना मानना आपने सीखा ही नहीं!'

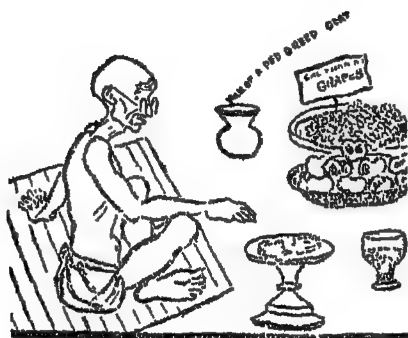
जीवन की मधुरतम स्मृतियों में गांधी जी इसे लेते हैं। इसी के

वजन को एक मधुर स्मृति और है। गांधी जी का लड़का भी अलोना भोजन करने की प्रतिज्ञा करता है। लेकिन एक दिन, सलोना भोजन देख कर मचल उठता है और उसे लेने की हठ करता है। गांधी जी उससे भी आगे बढ़ते हैं—खुद भी भोजन नहीं करते। साथ रहने वाले सब परेशान होते हैं, लेकिन प्रतिज्ञा पालन में पिता पुत्र दृढ़ रहते हैं। आख़िर, बड़ी मुश्किल से, दिन बीत जाने पर, समझौता हो पाता है!

बा पदार्थ-पाठ बन चलती हैं स्वयं गांधी जी के लिए उनके संसर्ग में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए, और आगे बढ़कर सम्पूर्ण देश के लिए। निर्विकार होने पर गांधी जी पहचान पाते हैं बा को, बा के रूप में सम्पूर्ण नारी-जाति को। नारी के मनोभावों से परिचित अधिकारी व्यक्ति का सिंहासन वह सुशोभित करते हैं—इस हद तक कि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशङ्का प्रकट करना वह बरदाश्त नहीं करते, इस तरह का प्रत्येक प्रयत्न अनधिकार चेष्टा और व्यक्तिगत अपमान के रूप में उनके सामने आता है।



SEEING THINKING AND FASTING



कड़वो बादाम

गांधी जी का न्याय बापू का न्याय है। आँखों पर उसके पट्टी बंधी है—बल्कि स्वयं विधाता ने उसे अंधा बना दिया है। दुनिया की अवास्तविक चकाचौंध से प्रभावित होने की सम्भावना इसमें नहीं रहती। माप-दण्ड भी उनका बड़ा जबर्दस्त है—एफ़िल टावर भी उसके सामने शर्म से गर्दन झुका लेता है, "अल्पात्मा को मापने के लिए सत्य का माप-दण्ड कभी छोटा न होवे।" यह ऐसा माप-दण्ड

है, जो कभी छोटा नहीं होता, हमेशा खड़ा रहता है। संयम ने इसे यह शक्ति सहज ही प्रदान कर दी है। सहज दृढ़ता के साथ सिद्धान्त सामने आता है, "To remain erect is infinitely easier than to rise from a fall !"

पुरुषत्व के इस प्रतीक को गांधी जी ने माता की पवित्र दृष्टि से स्थापित किया है। व्रत-उपवासों से उसके पौरुष को खण्डित होने से बचाया है—'व्रत से अपने को बांधना मानो व्यभिचार से छूट कर एक-पत्नी से अपने को बांधना है।' ब्रह्मचर्य, चेतन-शक्तियों का कष्ट साध्य दमन, सत्य और अहिंसा के सहारे, निरी असहाय अवस्थाओं में भी आशाओं का संचार कर, एक कड़ी और लम्बी तपस्या के बाद, गांधी जी इस की प्रगति को उत्थानमुखी, गगनगामी बना सके हैं।

"चौथे आश्रम तक जो इस बहुमूल्य वस्तु को रोक रखते हैं, उन्हें आत्मज्ञान तो नहीं मिलता—मिलता है बुढ़ापा, इससे भी आगे यह कि दयाजनक बचपन प्राप्त करके पृथ्वी का बोझ वह बन जाते हैं।" पच्चीस वर्ष के क्षणिक अवकाश को छोड़ कर अपनी तमाम उम्र गांधी जी ने इस 'दयाजनक बचपन' को दूर रखने की कोशिशों में लगाई है। फल भी उन्हें वाञ्छनीय मिला है—अनङ्ग यौवन के प्रतीक वह बन गए हैं, I verily believe that one who follows the prescription of eternal mother never grows old !

चिरन्तन माता के इस 'प्रेसक्रिप्शन' को गांधी जी ने ख़तरे से और भी दूर कर दिया है—पुरुषरूप को त्याग खुद माता रूप अख्तियार करके। माता के समीप जब वह जाते हैं, पुत्र से पुत्री हो जाते हैं—और सही शब्दों में खुद भी माता बन जाते हैं। पिता की

सेवा उन्होंने माता के हृदय से की है। गोखले उन्हें गंगा माता की तरह लगे—'गंगा की गोदी में हम खेल सकते हैं। डोंगी पर चढ़कर उसमें तैर सकते हैं।' न-केवल इतना ही, गोखले की जो सेवा स्वयं गांधी जी करते हैं, वह भी माता के हृदय से ही। सरदार पटेल उन्हें इस लिए अधिक अच्छे लगे कि माता के हृदय से सेवा करने में वह सब से आगे हैं। आश्रम-वासियों की देख-भाल भी वह माता के हृदय से ही करते है!

तमाम सम्भव-असम्भव खतरों से दूर स्वाश्रयी बनने की प्रेरणा गांधी जी को बचपन से ही मिली है। इस सौभाग्य का दुःखद पहलू यह है कि जितना ही उन्होंने स्वाश्रयी बनने का प्रयत्न किया है, उतना ही उनकी पर-निर्भरता उभर-उभर आई है। दुःखद चेतना के साथ उनके सामने आया है कि स्वाश्रयी बनने के प्रयत्न पर-निर्भरता से भी अधिक दुःख-दायी हैं—न-केवल इतना ही, बल्कि अधर्म की ओर भी वह ले जाते हैं, पाप-वृत्ति की ओर झुकाते हैं।

पर-निर्भरता की दुःखद चेतना को संभालने का एक सहज तरीक़ा है—अपने संसर्ग में जो आएँ और जिन पर वश चले, उनके लिए अपने सहारे को अनिवार्य बना देना, छोटी-से-छोटी बात के लिए भी वह हमारा ही मुँह देखें। गांधी जी को इसका स्वर्ण अवसर, खुश क़िस्मती से, बहुत जल्दी ही मिल जाता है—बचपन में ही उनका विवाह हो जाता है। लेकिन कस्तूर बा पर विरोधी दिशा में गांधी जी के इन प्रयत्नों का प्रभाव पड़ता है—जितना ही वह दबाते हैं, उतना ही वह उभरती हैं। गांधी जी और भी अधिक परेशान हो उठते हैं।

कई कारण इस स्थिति के हो सकते हैं। कस्तूर बा स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी हो सकती हैं, यह भी हो सकता है कि सामर्थ्य को आङ्कने

के बाद गांधी जी के प्रयत्न बेढंगे और हास्यास्पद उन्हें मालूम हुए हों। अंधेरे में जो शख्स सो नहीं सकता, भय को दूर भगाने के लिए रात-भर बत्ती जलाना जिसके लिए ज़रूरी हो जाता है, उसका वीरत्व रौब ग़ालिब नहीं कर सकता।

यह सब होते हुए भी गांधी जी को मनोवैज्ञानिक सहारा मिलने का एक और अवसर, खुश क़िस्मती से, बहुत जल्दी ही सामने आता है—कस्तूर बा का गर्भवती होना। यहाँ आकर नारी बेचारगी की प्रतिमूर्ति बन जाती है और अनिच्छा होते हुए भी उसे पति के अस्तित्व को स्वीकार करना होता है। पति को भी—भले ही वह पहले गर्भ को लेकर कितनी ही शर्म महसूस करे और चाहे कि यह न होता तो अच्छा होता—अपने पुरुषत्व की सार्थकता का सार्टीफिकेट मिल जाता है। लेकिन, दुर्भाग्यवश, यह गर्भ भी, पिता की मृत्यु के कारण, गांधी जी के लिए अत्यधिक दुःख और लज्जा का प्रसंग बन जाता है। जिस निवाले पर वह हाथ डालते हैं, गले में अटक कर रह जाता है। सिमट-सिमटा कर गांधी जी की दुनिया घर की पुरानी दासी रम्भा के चारो ओर घूमने लगती है—उसके साथ रह कर वह चैन पाते हैं। विलायत में भी माता के वचनों की रक्षा में, माता की स्मृति से अधिक रम्भा दासी का बोया बीज, राम-नाम से अधिक रम्भा दासी के प्रति उनकी श्रद्धा काम आती है। गांधी जी अपने मास्टर को अमर न कर सके, 'एकड़े एक, पापड़ शेक, पापड़ कच्चो, मारो...'' जबकि रम्भा दासी को उन्होंने अमर कर दिया है।

गांधी जी के साथ एक और भी दिक्कत थी—बोलने की अक्षमता। इसके कारण उन्हें अक्सर लज्जित होना पड़ा है, सहपाठियों का संसर्ग उन्हें नहीं मिल सका और फिर-फिर कर उन्हें अपने में ही सिमट

जाना पड़ा। लण्डन में अन्नाहार-क्लब की सभा में सन्तति-निग्रह का विषय उपस्थित हुआ। गांधी जी बोलना चाहते थे, पर बोल नहीं सके। डा० एडीसन को भी इसी तरह की दिक्कत पेश आई थी। बोलने वह खड़े हुए, अटक-अटक कर तीन बार I conceive, I conceive कहा और रह गये। श्रोताओं में से किसी ने रिमार्क कसा, "इन साहब ने तीन-तीन बार 'कन्सीव' किया, मगर कुछ पैदा न हुआ!" गांधी जी को इस घटना का ध्यान आता है। इसे भूमिका बना कर बोलने के लिए खड़े होते हैं, मगर बेसूद—फल कुछ भी नहीं निकलता, झेंप कर रह जाते हैं!





वाणी का वैभव

बाहरी दुनिया के संसर्ग में आने का, उस संसर्ग को स्थापित करने तथा आगे बढ़ाने का सब से बड़ा, सब से प्रभावपूर्ण और सब से प्रमुख साधन है 'स्पीच', ज़ुबान का प्रयोग। इस में ओछे पड़ने का मस्तिष्क पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा कि पुरुषत्व के स्खलित होने का—बल्कि उससे भी बुरा और कहीं अधिक दुखःद। बिना पेच पड़े ही यहाँ पतंग कट जाती है, मुक़दमा पेश भी नहीं होता कि डिग्री खारिज हो जाती है। न-केवल इतना ही, बल्कि पुरुषत्व के

स्खलन की दुःखद चेतना और तज्जनित हीन-भावना को संभालने में 'स्पीच' सहायक होती है—विचारों को कन्सीव करके संतुलन स्थापित किया जाता है। अगला क़दम होता है दूसरों को 'इम्प्रेगनैट' करने का—एक-दो को नहीं, वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र को इसके द्वारा 'इम्प्रेगनेट' किया जा सकता है। विचार 'एभार्टिव' भी होते हैं, 'मिसकन्सीव्ड' और विकारयुक्त भी—पवित्र और शक्तिदायी फल भी उन्हीं से मिलता है। सेक्सुअल इम्पोटेन्सी और डेबिलिटी का डबल प्रस के साथ कम्पन्सेशन यहाँ हो जाता है। इस हद तक यह कारगर होता है कि विचारों की 'पोटेन्सी' के सामने सेक्सुअल पॉटेन्सी को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया जाता है। उसकी कोई स्मृति शेष रहती भी है तो फ्रस्ट्रेशन की, एक के बाद दूसरा—पतन का कोई अन्त नहीं। दो ही चीजें सामने रहती है—The body either may be play-ground for passions or a temple of realisation.

सेक्सुअल डेबिलिटी यहाँ वरदान बन जाती है। परमात्मा की कृपा से उसे सम्बद्ध किया जाता है—उसकी वजह से पाप में रत होने से बच सके। संयम की पहली सीढ़ी वह बन जाती है—आगे चलकर संयम में और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। बोलने की अक्षमता भी, इसी तरह, एक गुण बन जाती है—शब्दों की किफ़ायत-शारी के रूप में, व्यर्थ का एक शब्द भी मुंह से नहीं निकलता—"पहले जिस सङ्कोच में दुःख होता था, अब सुख होता है। शब्दों की किफ़ायतशारी सीखा, विचारों पर क़ब्जा करने की आदत सहज ही आगई। मेरी ज़ुबान और क़लम से, बिना तौले, शायद ही कोई शब्द निकलता हो। अब किसी अंश के लिए शर्मिन्दा होने या पछताने की ज़रूरत नहीं होती।"

कम्पेन्सेशन के पूरा और विचारों की हाई पोटेन्सी पा लेने के बाद आत्म विश्वास और पौरुष. प्रतिशोध के साथ, स्थापित होते हैं। सहज दृढ़ता के साथ इम्प्रेगनेट करने की क्रिया चलती है—इस हद तक कि जब कोई इम्प्रेगनेट होने से इन्कार कर देता है तो इसमें पोटेन्सी का दोष न हो कर फील्ड विशेष का दोष होता है—बीज ग्रहण करने की शक्ति उसमें नहीं है, भ्रष्ट और अपवित्र वह हो गया है। किसी दम्पत्ति के बालक न होने का कारण, आँखें बन्द कर, पत्नी के सिर थोपा जाता है—वंध्या की उपाधि उसे दे दी जाती है, दूसरी शादी करने तक की नौबत आजाती है। अधकचरे जीवन की प्रतिध्वनि के सामने आने पर उसे ऊपर चढ़ा दिया जाता है—सेक्सुअल पोटेन्सी का मुँह काला कर, व्यभिचार और दुराचारों के दृष्टान्त सामने रख—जबकि अधकचरी प्रतिध्वनि इन ख़तरों से दूर रहती है, एक-पत्नीत्व और संयम की ज़मीन वह तैयार करती है।

ज़ुबान और क़लम की क्षमता-अक्षमता, सेक्सुअल पोटेन्सी और डेबिलिटी के अनुपात से, निन्नयानवे प्रतिशत केसों में घटती-बढ़ती है—एक के अभाव की पूर्ति, डबल रस के साथ, दूसरे से हो जाती है। गांधी जी के जीवन में इसने काफ़ी बड़ा पार्ट लिया है – उनके पैटर्न के निर्माण में इसका काफ़ी बड़ा हाथ रहा है।

गांधी जी का सुख एक ही पत्नी पर अवलम्बित था। एक बाई के यहाँ वह जाते हैं। मुँह से बोल नहीं निकलता—गूंगे बन जाते हैं और चाहते हैं कि यदि धरती फट जाए तो उसमें समा जाए। इस अक्षमता के कारण गांधी जी पाप से बच जाते हैं, लेकिन एक खटक फिर भी रह जाती है—इस बचाव में उनके पुरुषत्व का हाथ नहीं था। विलायत जाते हैं। वहाँ देखते हैं कि कतिपय युवक, आमोद-प्रमोद

की स्वतंत्रता पाने के लिए, विवाहित होते हुए भी अपने को कुँवारा बताते हैं। कुँवारेपन का स्वाद लेने के प्रयोग गांधी जी भी करते हैं। ब्लेयर की पहाड़ियों में एक युवती के साथ भ्रमण करते हैं। युवती बातों के फ़व्वारे उड़ाती, गांधी जी झेंप कर रह जाते; वह हवा की तरह बढ़ती, गांधी जी घर लौटने की सोचते—पर कुछ कहने की हिम्मत न होती, सकुच कर रह जाते। चोटी पर पहुँचने के बाद समस्या उपस्थित होती, उतरें कैसे। ऊँची एड़ी के बूट पहने हुए भी २४-२५ वर्ष की वह युवती तेज़ी से उतर जाती है, गांधी जी सोचते ही रह जाते हैं। नीचे पहुँच कर वह चुटकी लेती है, "ऊपर आकर नीचे खींच ले चलूँ!"

अब कुछ पौरुष जागता है। उतरते हैं—धीरे-धीरे, बैठ-बैठ कर। नीचे से युवती हौसला बढ़ाती है, "शा...बाश" कह कर!

झेंप यहाँ भी ढाल का काम करती है, लेकिन खटक फिर भी बनी रहती है। यह खटक दूर होती है ब्रायटन के तट पर। असत्य का विष जैसे खारिज हो जाता है।

ब्रायटन का तट हवाखोरी का अच्छा मुक़ाम है। वहाँ गांधी जी की एक बुढ़िया से भेंट होती है। बोलने की अक्षमता और तज्जनित सङ्कोच का देखकर बुढ़िया का हृदय द्रवित होता है और गांधी जी के सङ्कोच को दूर करने के लिए वह प्रयत्नशील होती है। युवतियों से गांधी जी की वह भेंट कराती है, बातें करने के लिये उन्हें प्रेरित करती है। घर की एक युवती के साथ उन्हें अकेला भी छोड़ देती है। वाञ्छनीय परिणाम इसका होता है—धीरे-धीरे गांधी जी का हौसला बढ़ने लगा, यहाँ तक कि बातें करने के लिये वह उतावले रहने लगे।

यहाँ आकर गांधी जी ठिठकते हैं। झेंप निकलने से उनका आत्म-

विश्वास बढ़ता है, लेकिन साथ ही उन्हें लगता है कि वह कोई पापकर्म कर रहे हैं। बुढ़िया को यह लिखना चाहते हैं—बड़ी मुश्किल से, दर्जनों स्लिप खराब करने के बाद, गांधी जी पत्र लिख पाते हैं। माफी मांगते और खेद प्रकट करते हैं कि वह विवाहित हैं, और-आगे बढ़ना ठीक न होगा। इस असत्य आचरण के बाद वह अपने को वृद्धा के प्रेम का योग्य पात्र नहीं समझते। कहते हैं, वह विशेष रूप से आभारी होंगे, यदि वह, अब भी, उन्हें अपने प्रेम का पात्र समझेंगी।

पत्र पाकर वृद्धा और युवती खिलखिला कर हँसते हैं। गांधी जी को बुला कर कहते हैं, "तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुन हम हँसी-दिल्लगी करने का अवसर प्राप्त करेंगी"।

पहली बार खटक, असत्य के जहर, के निकलने का अवसर गांधी जी के जीवन में आता है और संयम-बल के गर्व को, सहज विश्वास के साथ, वह महसूस करते हैं, "उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी, लेकिन अब तो मैं बीस वर्ष का हो गया था, गृहस्थाश्रम का अनुभव भी खूब प्राप्त कर चुका था।"

विलायत-प्रवास के अन्तिम वर्ष की यह बात है। संयम-बल के प्रयोग का एक अवसर और आता है—मल्लाहों के बन्दर पोर्टस्मिथ में। एक बाई के यहाँ ठहराए जाते हैं। दुराचारिणी स्त्रियों के इस बन्दर में बहुत से घर हैं—वेश्याएँ तो उन्हें नहीं कहा जा सकता, लेकिन निर्दोष भी वे नहीं होतीं।

गांधी जी के साथ एक साथी और होते हैं। रात होती है। भोजन के बाद ताश का खेल शुरू होता है। निर्दोष विनोद के स्थान पर बीभत्स मज़ाक शुरू होता है। गांधी जी को इस बार सङ्कोच नहीं

घेरना—संयम-बल सहारा देता है और वह आगे बढ़ते हैं, विनोद के वाणी से क्रिया में परिणत होने की नौबत आती है।

ध्यान देने की बात है, दूसरे साथी यहाँ निस्संग रहते हैं और गांधी जी, पात्र-कुपात्र का ध्यान किए बिना, आगे बढ़ते हैं। आखिर साथी को गांधी जी का हाथ रोकना पड़ता है, "यह काम तुम्हारे योग्य नहीं, चलो यहाँ से।"

गांधी जी शर्मिन्दा होते हैं। माता की प्रतिज्ञा याद आती है। रात-भर नींद नहीं आती—सचेत रह कर जीवन बिताने का निश्चय करते हैं। वाणी का वैभव, जुबान का प्रयोग, दुःखद अनुभव को प्रस्तुत करता है। अंधकार और असहाय अवस्था उन्हें चारों ओर से घेर लेती है, "जब चारों ओर से आशाएँ छोड़ बैठने का अवसर आ जाता है, हाथ-पाँव ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं-न-कहीं से सहायता अपने-आप आ जाती है। वाणी के वैभव में यह सम्भव नहीं—उसका मूल कण्ठ नहीं, हृदय है। हृदय को निर्मल कर उसके तारों का सुर मिला लेवें तो वह गगनगामी हो जाता है।"

गगनगामी निर्मल पुरुषत्व के विश्वास को लेकर गांधी जी घर लौटते हैं—कस्तूर बा से मुठभेड़ होती है और पुरुषत्व को फिर विरोध का सामना करना पड़ता है। गांधी जी के मनोरथ पूरे नहीं होते, बा को वह घर से निकाल देते हैं।

दक्षिण अफ्रीका जाते समय जंज़ीबार में हब्शी औरतों के यहाँ संयम-बल की फिर परीक्षा होती है, "मैं तो शर्म के मारे कमरे में घुसा बैठा रहा। बाई के मन की हालत वही जाने। मैं तो जैसा अन्दर घुसा था, वैसा ही बाहर आ गया।"

गांधी जी को सन्तोष होता है, पोर्टस्मिथ की तरह इस बहिन को

देखकर विकार उत्पन्न नहीं होते—खटक की दुःखद चेतना के स्थान पर निर्मल पुरुषत्व का सन्तोष यहाँ प्राप्त होता है। विश्लेषण कर गांधी जी कहते हैं, बहुत से भाई झूठी शर्म के कारण, पुरुषत्व को ग़लत तरीक़े से सार्थक करने के लिए, पापाचार में रत हो जाते हैं—पोर्टस्मिथ में जिसकी नौबत आगई थी। इस बार, परमात्मा की कृपा से, इस शर्म का शिकार होने से बच गए। आगे चल कर, पोटेन्ट आत्म-विश्वास के सहारे, इस झूठी शर्म को छोड़ने का भी साहस आगया—संयम-बल का गौरव विजयोल्लास से दीप्त हो पदार्थ-पाठ बन कर स्थापित हो गया!





संयमी कामधेनु

बोलने की अक्षमता के साथ-साथ, क़दम-से-क़दम मिला कर, मातृ भाषा की समस्या भी चलती है। मातृभाषा का स्थान माता या पत्नी

का होता है और मातृभाषा को अपनाने, उस पर क़ाबू पाने की क्षमता-अक्षमता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी वैसा ही पड़ता है, जैसा कि पत्नी को क़ाबू में न रख सकने वाले पति पर पड़ता है। अपनी पत्नी को सन्तुष्ट न रख सकने वाले पति दूसरे की पत्नियों के साथ फ़्लर्ट करने में काफ़ी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे उदाहरण अक्सर मिलते हैं जहाँ व्यक्ति अपनी पत्नी के सामने इम्पोटेण्ट और वेश्याओं के साथ पोटेण्ट हो जाते हैं—वेश्यागामियों की संख्या, अधिकांशतः, इसी तरह के सेक्सुअल एथिलीट पूरी करते हैं। साथ ही यह भी एक सत्य है कि वेश्याओं के यहाँ भेज कर कितने ही व्यक्तियों की इम्पोटेन्सी दूर हो सकी है—अनेक व्यक्ति इस तरह, दृष्टान्त रूप में, सफल एक पत्नीव्रती हो सके हैं। इस दृष्टि से, Celibates by choice के लिए जो विशेषण प्रयुक्त होते हैं, वेश्याओं के लिये भी, शब्दशः, उन्हीं का प्रयोग होता है। सोसायटी के गार्डिंग एञ्जल और संतरी के रूप में दोनों की उपयोगिता, विरोधी दिशा के होते हुए भी, एक ही मात्रा में सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं छोड़ती। यह दूसरी बात है कि संस्कारवश एक को हम अपना सकें और दूसरे को देख कर नाक-भौंह सिकोड़ें।

मातृभाषा के प्रभाव का क्रम भी ठीक इसी तरह चलता है। किसी वजह से अपनी मातृभाषा का जो ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते, वे विदेशी भाषाओं के पारङ्गत विद्वान होते हैं—एक-दो के नहीं, संसार की सभी भाषाओं के मास्टर वह आसानी से हो जाते हैं। कुछ होते हैं जो विदेशी भाषाओं के साथ फ्लर्ट करते हुये ही अपना जीवन बिता देते हैं—तमाम प्रसिद्ध भाषाविदों के बारे में यह जानने में विशेष कठिनाई नहीं होगी कि विदेशी भाषाओं के जितने ही अधिक वह मास्टर रहे हैं, अपनी मातृभाषा के प्रति उतने ही अधिक उदासीन।

कुछ ऐसे भी होते हैं जो विदेशी भाषाओं के साथ फ्लर्ट करने के बाद पेटेन्ट होकर अपनी मातृभाषा से संसर्ग स्थापित करते हैं—कसम खाकर एक-पत्नीव्रती, मातृभाषा के प्रचारक, वह बन जाते हैं। मातृ भाषा को छोड़ कर विदेशी भाषा की ओर झुकने वालों को, वेश्यागामियों की श्रेणी में खड़ा कर, ऊँचे मन्च से कण्डेम करते हैं।

एक पहलू इसका और भी है। इन्सेस्ट टैबू की वजह से अपने घर में उतना हम नहीं खेल सकते, जितना कि दूसरे के घर में। कतिपय वेश्यागामी अपने नगर में भले बने रहते हैं। वेश्यागमन के लिये दूसरी जगह जाना वह अपना नियम बना लेते हैं। अलावा इसके एक लाभ और भी होता है। वेश्या के यहाँ अपना त्रुटियों के लिये लज्जित होने की सम्भावना नहीं होती, पैसे के बल पर वहाँ आसानी से विजेता बना जा सकता है, जब कि माकूल पति बनने के लिये हर तरह से फिट होने की जरूरत होती है, त्रुटियों के लिये लज्जित ही नहीं होना पड़ता, एक बबाले जान भी वे बन जाती हैं।

भाषाओं के साथ भी ऐसा ही होता है। विदेशी भाषा, मातृभाषा के स्थान पर, अधिक आकर्षक और सहज-प्राप्य दिखाई पड़ती है। उसमें गल्तियाँ करना भी इतना नहीं अखरता, जबकि मातृभाषा में चूकना लज्जास्पद प्रसंग बन जाता है। विदेशी भाषाओं से फ्लर्ट करने के बाद जो मातृभाषा के प्रचारक होते हैं, उनके तर्कों में इस लज्जा का विशेष रूप से उल्लेख होता है—मातृभाषा में तुतलाना विदेशी भाषा में पारङ्गत होने के मुकाबिले कहीं अधिक अच्छा है। लज्जा की नहीं, गौरव की यह चीज़ है।

गांधी जी के जीवन में इस अद्‌मता ने भी बहुत बड़ा पार्ट प्ले किया है। बचपन में मातृभाषा आप को गणित की तरह कठिन

मालूम होती थी, फार्सी सहज। मातृभाषा के पंडित जी के मुकाबले में फार्सी के मौलवी साहब के नरम होने का आभास भी सामने आता है। इन दोनों को लेकर स्कूल में प्रतिद्वन्दिता भी चल रही थी। गांधी जी फार्सी की क्लास में जाकर बैठते हैं। पंडित जी को इससे दुःख होता है। गांधी जी को बुला कर कहते हैं, "अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते! आगे चल कर तुम्हें रस की घूटें मिलेंगी। निराश न होओ, फिर मेरी कक्षा में आकर बैठो।"

गांधी जी शर्मिन्दा होते हैं, लेकिन रस की घूटें लेने लायक अपने को फिर भी नहीं बना पाते। विलायत में गीता को लेकर गांधी जी को फिर शर्मिन्दा होना पड़ता है—संस्कृत तो क्या, गुजराती में भी गीता नहीं पढ़ी थी!

गांधी जी के जीवन में लज्जा और सङ्कोच के अनेक अवसर आये हैं—उनका जीवन ही इन दोनों की ज़मीन पर खड़ा हुआ है। पिता की मृत्यु के प्रसङ्ग का काला धब्बा आज भी गांधी जी की गर्दन को झुका देता है। इस से भी अधिक लज्जा आती है उन्हें अंग्रेजी के माध्यम द्वारा अपने धर्म में दीक्षित होने पर। इस लज्जा को दूर करने की कोशिश की है उन्होंने मातृभाषा का प्रचार और विदेशी भाषा का विरोध करके, लेकिन फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इससे पहले उन्हें अंग्रेजी में पारङ्गत होना पड़ा है—'गॉड सेव दि किंग' पर अथक परिश्रम करते-करते ऑक्सनी उच्चारण को गांधी जी ने जिस सफलता से अपनाया है, उसे देख कर स्वयं अंग्रेजों को चकित रह जाना पड़ा है।

इससे भी अधिक चकित रह जाना पड़ता है उस समय, जब गांधी जी से आशा की जाती है कि राजनीति पर कुछ कहेंगे, लेकिन

बोलने लगते हैं मातृभाषा को लेकर। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना तो समझ में आ जाता है, लेकिन इस शिक्षा को मौखिक, पाठ्य-पुस्तकों को अलग करके, देना फिर चकित करता है। पाठ्य-पुस्तकों की जगह वह अपने को, शिक्षक को, रखते हैं—शिक्षक ही उनकी पाठ्य-पुस्तकें हैं। नतीजा इसका और भी चकित करने वाला होता है—शिष्यों का पढ़ाना अलग हो जाता है, शिक्षक अपने को पदार्थ-पाठ बनाना शुरू करता है—शिष्य गुरु हो जाते हैं, शिक्षक शिष्य बन जाता है। शिष्यों को इससे कुछ फायदा हो चाहे न हो, लेकिन शिक्षक के दोनों हाथ लड्डू रहते हैं—बापू-पद उसका सुरक्षित रहता है।





एक-माताव्रत

गाधी जी अंग्रेज़ी का विरोध नहीं करते, उसके रस का पान करने की भी वह अनुमति देते हैं—लेकिन मातृभाषा से उसे identify

करने के बाद, अनुवाद के रूप में। कुछ ब्रह्मचारियों को वह अनुवाद करने की अनुमति दे सकते हैं, लेकिन सब को नहीं—वह घातक और अधर्माचरण होगा।

एक-पत्नीव्रती होने के गांधी जी के प्रयोग असफल होते हैं, बा के साथ रोज़ खट-पट चलती है। इस खट-पट का अन्त होता है उनके निर्विकार होने पर, एक-पत्नीव्रती से एक माता-व्रती होने पर। चिरन्तन माता के प्रेसक्रिप्शन के सहारे अधकचरे पूर्व काल की प्रतिध्वनि से—हीरा लाल गांधी जी के लिए यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है—गांधीजी अपने को मुक्त कर सके हैं। पवित्र विचारों की पवित्र पोटेन्सी के सहारे पवित्र फल देने लायक़ वह अपने को बना सके हैं। दृष्टान्त सामने आता है, "Think of women as your mother. Chastest literature will flow from your pen, like beautiful rain from heaven which waters the thirsty earth below. Remember a woman was a mother before she became your wife. "Far from quenching their spiritual thirst, 'they' excite their passions."

भारत कृषि-प्रधान देश है और माता के सब्लीमेशन का कृषि-युग से घनिष्ठ सम्बन्ध है—धरती माता का आकाश द्वारा सींचा जाना, अच्छी फ़सल पाने के लिए तत्सम्बन्धी प्रार्थनाएँ करना, इसी युग की देन हैं। धरती माता को उपजाऊ बनाने के लिए युवक और युवतिएं, पति और पत्नी, खेतों में जाकर सेक्सुअल इन्टरकोर्स तक करते थे। वैध इन्टरकोर्सों का परिणाम अच्छा माना जाता था और अवैध का नाशकारी—फ़सल को नष्ट करने वाला। गांधी जी के शब्दों में, "God

has blessed man with a seed of high potency and woman with a fertile field richer than the richest earth. Surely, it is criminal folly for a man to allow his most precious possession to run to waste. So is a woman guilty who will receive the seed... they will be dispossessed of what they of havelbeen given. It is meant only for the act of creation."

यह क्रिमिनलल वेस्टेज, खुदा की मार, एक्ट आफ़ क्रिएशन, सन्तानोत्पत्ति पर ही ख़त्म नहीं हो जाती—सन्तानोत्पत्ति की, वस्तुतः, उसे चिन्ता भी नहीं है। चिन्ता है उसे इस बात की कि यह एक्ट आफ़ क्रिएशन वैध हो—बापू की पवित्र दृष्टि-मर्यादा से बाहर, किसी कोने में छिप कर, न हो। सन्तानोत्पत्ति पर ज़ोर दिया जाता है वहाँ, जहाँ 'सन्तान' प्राकृतिक दण्ड के रूप में आती है—इस दण्ड के अभाव में सामाजिक व्यवस्था पर चोट पड़ेगी, व्यक्तिगत पूंजीवाद की नींव हिल जाएगी, विरासत के हक़ों में उलट-फेर हो जाएगा—बुर्जुआ आचार-नीति को, बापूवाद को, पाँव रखने के लिए ज़मीन नहीं मिलेगी।

ऐसी अवस्था में 'एक्ट आफ क्रिएशन' rape of a tender girl, shameless exploitation of women, sure ride to death and destruction, criminal, cowardly and unmanlilike बन जाता है। महाभारत में व्यास का उल्लेख आप करते हैं। सन्तान के लिए नियोग को उन्होंने अपनाया था। एक्ट आफ़ क्रिएशन से पूर्व अपने सम्पूर्ण शरीर को घी से वह पोत लेते थे।

लेकिन नियोग की वजह से उनका चरित्र वीभत्स बन जाता है, जबकि वशिष्ठ-पत्नी अरुन्धती और विश्वामित्र की मिसाल, सौ बच्चों की माता होने पर भी, ब्रह्मचारिणी के आदर्श-रूप में हमारे सामने रखी जाती है—एक आकर्षक प्रलोभन के रूप में, बापू-धर्म का पालन करने पर कहाँ तक आगे बढ़ने की सुविधा मिल सकती है, अनुकरण करने के लिए नहीं !

विज्ञापनों का यह युग है। बिना विशेषणों के कोई भी चीज़ जैसे टिक नहीं सकेगी। विशेषणों के आकर्षण की उपयोगिता को गांधी जी ने अच्छी तरह महसूस किया है और उनका उपयोग भी उन्होंने पर्याप्त मात्रा में किया है—इस हद तक कि विशेषणों के फेर में वह मूल चीज़ को भी नज़रन्दाज़ कर गए हैं। संयम को रसमय बनाने के उनके प्रयोग परिचय के मोहताज नहीं—घुंघरुओं की झङ्कार पर, सौन्दर्य-राशि के संसर्ग-स्पर्श में उनका संयम-बल गगनगामी बन पाया है। असंयम के तमाम आकर्षण उस में मौजूद हैं। इन आकर्षणों को स्थायी बनाने के लिए संयम का आदेश दिया जाता है, "if the salt loses its savour, where with it shall be salted?" हैवनली कलर्स आफ़ चेस्टिटी की कविता फिर सामने आती है, पवित्रतम सुखों के अक्षय भण्डार की कुञ्जी का प्रदर्शन होता है, चिर यौवन को क़ायम रखने का प्रेस्क्रिप्शन भी, चिरन्तन माता के रूप में, हाथ लग जाता है, पर्मानेन्ट इरेक्शन की संयम-बल गारण्टी देता है—गिरने, नीचा देखने की कभी नौबत न आएगी।

हठयोग और प्राणायाम के सहारे संयम-बल अब तक आता रहा है। गांधी जी ने उसे रसमय बना कर पेश किया है। धर्म भी अब तक दूसरी दुनिया का हिसाब-किताब चुकता करने में लगा रहा,

गांधी जी ने उसे भी रसमय बना कर इस दुनिया से सम्बद्ध किया है, वह धर्म धर्म नहीं जो पाप करने की सुविधा न दे !

पत्नी बनने से पहले नारी माता होती है। बात ठीक है—मदर इमेज का प्रोजेक्शन वह होती है। जहाँ वह नहीं हो पाती, वहाँ वह ठीक पत्नी नहीं बन पाती—खटपट चलती है। यह भी सही है कि माता की तरह उसकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए। सभी करते भी हैं। पतिता नारी को पत्नी बनाने के लिए कोई तय्यार नहीं होता। खुद चाहे अखण्ड ब्रह्मचारी न हो, लेकिन पत्नी अछूती मिलनी चाहिए—माता की तरह पवित्र। पत्नी बनाने के बाद भी, कतिपय उत्साही मातृभक्त, इस पवित्रता को बराबर क़ायम रखते हैं। वेश्याओं के यहाँ जाना, दुनिया-भर के अवैध सम्बन्ध स्थापित करना वह गवारा कर लेंगे, लेकिन पत्नी का मातृत्व अक्षत् रखेंगे। चूक जाने पर उन्हें अत्यधिक मानसिक क्लेश होता है। ऐसे व्यक्तियों की तो कमी नहीं है, जो पत्नी के साथ प्रत्येक संसर्ग को चूक जाने के रूप में लेते हैं; लगता है, जैसे कोई पाप-कर्म किया हो। अपराधी आत्मा उन्हें प्रताड़ित करती है और तीखे मानसिक द्वन्द का वह शिकार होते हैं। लज्जा और सङ्कोच से वह गड़ जाते हैं, पत्नी के सामने मुहँ उठा कर देखने की हिम्मत उन्हें नहीं होती। अपनी निर्बलता, उभर कर सामने आजाती है—दुःखद चेतना के साथ। आगे चल कर यह निर्बलता पैटर्न का अविछिन्न अङ्ग बन जाती है—मैटर आफ़ कोर्स की चीज़। संसर्ग-स्पर्श पाने का समर्थन भी उससे मिलने लगता है—निर्बलता मजबूर कर देती है। ज़िम्मेदारी, अपने से हट कर, पत्नी पर स्थापित करने लगते हैं, वह भी तो विरोध नहीं करती—करती भी है तो निष्क्रिय विरोध। यदि वह दृढ़ होकर 'ना' कहना सीख जाए तो कुछ भी न हो। ज़ोर-ज़बर्दस्ती से

कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। सच तो यह है कि वह खुद यह सब पसंद करती है—या 'ना' कहना भूल गई है।

'ना' कहने की कला का, अपने पतियों तक से, फिर विकास होता है। जो अपनी मदद खुद करते हैं, परमात्मा उन्हीं का साथ देता है—पदार्थ-पाठ नारी के सामने रखा जाता है। सतीत्व और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए पुरुष पर निर्भर करना ग़लत है—वह चाहे तो भी नहीं कर सकता। सत्य का प्रकाश लेकर गांधी जी ने दुनिया छान डाली है, उन्हें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिला जहाँ पुरुष ने नारी के सत की रक्षा कर पाई हो। यह काम तो peculiarly and specially नारी का ही है, "with her resolute will she can burst all the bonds which render her powerless. यह दृढ़ता, अगले ही वाक्य में, मृत्यु का सुहावना दृश्य उपस्थित करती है, "resolution will give her strength to die मरने के बाद कोई कुछ भी करे, पाप नहीं लगता, "a woman no more loses her virtue because a brute renders her sensless and ravishes her."





जीवन का सुख

छत्तीस रोगों की एक दवा गांधी जी के पास है— नग्ना-प्रयोग। इसके सहारे विलायत में उन्होंने अपनी माता के वचनों की रक्षा की, बड़े-बड़े तर्कों और दलीलों को इसके सामने हार माननी पड़ी। संयम का

मूलमंत्र भी इसमें निहित है। इसी के अभाव में उनका गार्हस्थिक जीवन कलहपूर्ण रहा। नन्ना के प्रयोग में कस्तूर बा कच्ची रहीं—मृत्यु की बात तो बहुत दूर है, वह घर तक छोड़ने का साहस न बटोर सकीं, विशेष कर ऐसी हालत में, जब कि समाज के श्रीमन्तों की कृपा से देश में अनाथाश्रमों की कमी नहीं है। आखिर गांधी जी को ही यह क्रिया भी सम्पन्न करनी पड़ी।

पौरुष के इस अपमान को, इस क्रिया-द्वारा प्रस्तुत निर्बलता की प्रत्यक्ष दुःखद चेतना की खटक को, दूर करने तथा संभालने का प्रयत्न किया है गांधी जी ने नारी को क्रियाशील बना कर—इस हद तक कि वह उसे कोई सलाह देना भी स्वीकार नहीं करते। बिना कहे ही वह उसे हरकत करते देखना चाहते हैं। कहने की ज़रूरत पैदा होजाने पर वह बड़ा अटपटा महसूस करते हैं—मानो उनकी शक्ति का उपहास किया जा रहा हो!

यह सतर्कता गहरा रुप अख्तियार करती है उन नारियों को लेकर जिन्हें वह अपने निकट समझते हैं या जिन्हें अपने पास आने की अनुमति देते हैं। जिनसे परिचय नहीं है या जो आँखों की ओट रहती हैं, उन्हें तो किसी हद तक वह आदेश दे भी सकते हैं, लेकिन जो साथ रहती हैं या साथ रहने का अवसर प्राप्त करना चाहती हैं, उन्हें नहीं।

इस दुनिया में आकर, जहाँ तक पुरुष-नारी का सम्बन्ध है, पुरुष निष्क्रिय हो जाता है और नारी सक्रिय। नारी की इस सक्रियता में पुरुष का योग नहीं होता—हो नहीं सकता। उसमें वह शक्ति ही नहीं है जो नारी को साध सके!

नन्ना के प्रयोग ने सङ्कोच और लज्जा के अवसरों को दूर कर दिया। परिचय-क्षेत्र भी व्यापक हुआ—पहले जिन नारियों का परिचय पाना

असम्भव था, उनका संसर्ग-स्पर्श और सहयोग प्राप्त हुआ—ट्रान्सवाल और नैटाल में एक भी नारी ऐसी नहीं थी, जिसका परिचय उन्हें प्राप्त न हुआ हो। उनकी गुह्यतम बातें भी सामने आईं, और किसी रूप में जिन का जानना सम्भव न होता—प्रेमी और पति के रूप में भी नहीं।

संयम-बल की आकर्षक उपयोगिता सामने आई। इस आकर्षण के संसर्ग-स्पर्श में आकर संयम-बल और भी पुष्ट हुआ। कसौटी पर खरा उतरने के अवसरों को पाकर गांधी जी सन्तुष्ट हुए। रस की भी इसमें कमी नहीं थी। संयमी काम-धेनु को पाकर पौरुष और भी सार्थक हो उठा, न-केवल इतना ही, बल्कि पौरुष की व्याख्या, उसका कार्य-क्षेत्र भी यही हो गया—to prove manliness by resisting and fighting temptations. इससे भी आगे बढ़ कर यह कि to avoid battle is to give up only joy of living. जीवन का एक मात्र आनन्द भी यही बन कर रह जाता है!

गांधी जी के संयम में नारी की परछाईं देख कर दूर भागने की जरूरत नहीं पड़ती, न-ही आँखों पर पट्टी बांधनी होती है—"I do not believe in a Brahmcharya which ever requires a wall of protection against the touch of opposite sex and will fail if exposed to temptations."

नारी के स्पर्श और सम्मोहन की बल्कि यहाँ ज़रूरत होती है—संयम को जागरूक रखने और उसकी शक्ति को सिद्ध करने के लिए। जीवन का एकमात्र आनन्द तब प्राप्त होता है, संयम बल का गौरव पाकर पौरुष सार्थक हो उठता है।

टेम्पटेशन्स को गांधी जी ने अपने से दूर नहीं किया—वरन् उनका स्वागत किया है, जब भी और जहाँ भी वह दिखाई पड़ी हैं। उनकी

खोज में भी वह रहे हैं। बदमाश समझे जाने वाले लड़कों के साथ लड़कियों को न्हाने भेजने का प्रयोग, दिशा-निर्देश के रूप में—कहाँ तक आगे बढ़ा जा सकता है—हमारे सामने आता है। सन्तति-निरोध की प्रचारिकाएँ, जब कभी वह आई हैं, गांधी जी के पास पहुँच सकी हैं। संयम और असंयम, विरोधी क्षेत्र के प्रतिद्वन्दियों के रूप में, युद्ध क्षेत्र में कूदे हैं—एक-दूसरे को अपने में समा लेने के लिए। गौतम बुद्ध की मुद्रा में संयम अपने को स्थापित करता है, आकर्षक रूप धर कर असंयम उसके चारों ओर मण्डराता है—समाधि भङ्ग करने के लिए। संयम स्थिर है, जैसे कुछ नहीं हो रहा—असंयम के अस्तित्व से भी जैसे वह बेगाना है, अपने प्रतिद्वन्दी के अस्तित्व तक से वह इन्कार कर देता है। प्रतिद्वन्दी यदि फिर भी हठ करता है, अपने अस्तित्व को स्वीकार कराने के लिए ज़िद करता है तो संयम का तीसरा नेत्र, कामदेव को भस्म करने वाला, चिंगारिएँ छोड़ने लगता है।

श्रीमती हाउ-मार्टिन गांधी जी से मिलने आती हैं। उल्लेखनीय विभिन्नता वह पेश करती हैं—संयम-असंयम की, अंधकार-प्रकाश की मुठभेड़ होती है। संयम के प्रतीक के रूप में गांधी जी अपने को स्थापित करते हैं। असंयम की प्रतीक निकट आती है। तीसरे नेत्र से चिंगारिएँ निकलनी शुरू होती हैं उस समय, जब असंयम को प्रतीक, संयम के प्रतीक के अस्तित्व को न-केवल स्वीकार ही नहीं करती, बल्कि अपने अस्तित्व को स्वीकार कराना चाहती है। प्रश्न खड़ा करती है, "But why must you cast aspersions on the brute ?"

इसके बाद गांधी जी जो रूप अख्तियार करते हैं, संयम-बल की शक्ति ही उसे प्रदान कर सकती है। साधारण जन उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। कहते हैं, "I do not. The lion in his maj-

esty is a noble creature and he has a perfect right to eat me up, but I have none to develope paws and pounce upou you. Then I lower myself and become wor.e than brute."

असंयम की प्रतीक अपनी जान की खैर मनाती है। अचकचा कर खेद प्रकट करती है। गांधी जी भी सचेत होते हैं—नीचे गिरने के बजाय ऊपर उठते हैं। कहते हैं, "I do not want to take undue advantage of you...do not run away with misconceptions."

निर्दोष आध्यात्मिक कन्सेप्शन और व्यापक चेतना के लिए अपवर्ड और डाउनवर्ड मूवमेन्ट्स की फिर बातें चलती हैं। शर्त पेश होती है, "You can not realise the wider consciousness unless you subordinate completely reason and intellect, and the body too."

आत्म-समर्पण की यह चरम सीमा है। श्रीमती मार्टिन, देसाई जी के शब्दों में, looked puzzled and time was fast running against her." गांधी जी नरम पड़ते हैं। तीसरा नेत्र बन्द कर लेते हैं। कहते हैं, "I am prepared to give you more time. But for that you must come to Wardha and stay with me.........until you have converted me or yourself."

इस rapturous discourse का अन्त होता है सत असिसी के शब्दों की स्मृति के साथ। अंधकार, अशान्ति और घृणा का साम्राज्य चारों ओर स्थापित है। प्रकाश, शान्ति और प्रेम को कहीं जगह नहीं

मिलती। बारी-बारी से तीनों पूछते हैं, "Thither will I go?"—and the word was made flesh and dwelt among us!

श्रीमती सैंगर के साथ तो अच्छा-खासा लुका-छिपी का खेल होता है—बाक़ायदा संयमी कोर्टशिप चलती है। श्रीमती सैंगर point of contact पाने के लिए डेस्पेरेट होती हैं और गांधी जी अपनी conditions-cum-limitations पेश करते हैं, अपना इनसाइड-आउट खोल कर रखते हैं। विजय प्राप्त करने के लिए जैसे गांधी जी अपने अस्तित्व को ही काफ़ी समझते हैं, मुँह से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं समझते, इस ज़रूरत को फिर भी पूरा होना हो तो और किसी के पास जाने की सलाह देते हैं, लेकिन श्रीमती सैंगर हैं कि अपने खिलौने, पैट डिवाइस, को ही मुक्ति का साधन समझती हैं—"Just as believers in violence want Gandhi to win freedom through violence."

श्रीमती सैंगर Phantasmagoria of irritations, disputes and thwarted longings के चित्र पेश करती हैं, loving glances, tender goodnight-kisses and words of endearment के सहारे ब्रेकडाउन, निश्चय ही नर्वस, को बचाना चाहती हैं, लेकिन बेसूद। कहती हैं, गांधी जी नारी को नहीं पहचानते—पहचान नहीं सकते, पिता की मृत्यु के दुःखद प्रसंग ने इस हद तक उन्हें प्रभावित किया है!

यह अभियोग गांधी जी को विचलित कर देता है। गांधी जी से अधिक श्री० देसाई को विचलित कर देता है। श्रीमती सैंगर से वह शिकायत करते हैं, गांधी जी से भी उन्हें शिकायत है—नाहक उसे

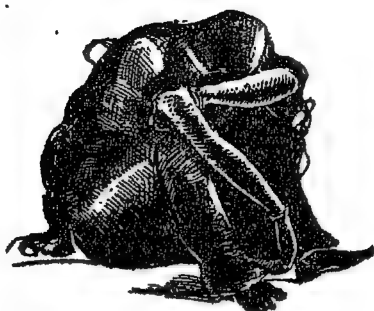
अपने पास आने दिया। विकट स्थिति यहाँ उत्पन्न होती है। दयार्द्र हो जैसे कोई किसी युवती को अपनी छत्रछाया में शरण देता है, बेहोशी दूर करने के लिए दामन से उसे हवा करता है, संभालने के लिए हर तरह से उसे सहारा देता है और वह युवती, मतलब निकल जाने पर, अकृतज्ञ हो, जैसे उसी पर अभियोग लगाना शुरू करती है। उपकार को भूल असत्याचार तक का दोषारोपण करने लगती है!

आवेश में आ देसाई जी कहते हैं, "She utters not a word about the points of agreements she sought and the extent to which Gandhiji was prepared to go with her—all she is concerned about is to prove that Gandhiji does not know the women of India."

श्री॰ देसाई परेशान होते हैं, श्रीमती सैंगर गांधी जी के पास आई थीं, एक विकट समस्या का हल खोजने के लिए। उनके व्यापक प्रभाव को वह स्वीकार करती हैं। गांधी जी को संत वह समझती हैं और जानती हैं कि करोड़ों व्यक्ति उनके इशारे पर चलते हैं। फिर भी वह मज़ाक़ उड़ाती हैं कि गांधी जी नारी-हृदय को नहीं जानते—जिसके इशारे पर हज़ारों औरतें जेल चली गईं, वह नारी को नहीं पहचानता!

पाठ्य-पुस्तक के रूप में गांधी जी श्रीमती सैंगर के सामने खुल पड़ते हैं। पदार्थ-पाठ प्रस्तुत होता है। श्रीमती सैंगर प्रतिनिधित्व कर सकती हैं कुछ इनी-गिनी अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी लड़कियों का। वस्तुतः जो नारी-समुदाय है, वह तो मूक पशु की तरह है—अपनी पीड़ा को व्यक्त भी नहीं कर सकता!





नर्क का प्रवेश-द्वार

अव्यक्त व्यथा का एक निजी आध्यात्मिक महत्त्व होता है। मूल्य भी उसका अधिक है। यथार्थ रूप उसका अव्यक्त ही है। वाणी का वैभव पाकर वह भ्रष्ट हो जाती है। व्यथा अगर उसे माना भी जाए तो वह जैसे बाज़ारू, किसी वेश्या की, व्यथा है और जो अव्यक्त है, वह किसी सती-साध्वी की।

इस मूक-व्यथा को गांधी जी ने पहचाना है। शिक्षित बहिनों से भी बातें की हैं, लेकिन वह उन पर विश्वास नहीं कर सके—मूक-

व्यथा के संसर्ग में वह नहीं आई हैं, "Do not tell me of the educated girl of India. She will be your slave, much to her damage." इससे भी ज़ोरदार तर्क पेश करते हैं, "I began service of India's women more than forty years ago, when perhaps none of them was born !"

निस्सन्देह, गांधी जी ने नारी का परिचय पाने की कोशिश की है, उसकी व्यथा का अनुभव करने के लिए खुद को नारी रूप देने में भी वह सफल हुए हैं, "They have regarded me as half a woman because I completely identified myself with them."

दृढ़ विश्वास और अनुभव की सामर्थ्य के साथ गांधी जी आगे बढ़ते हैं। नारी-जीवन की विभिन्न जटिलताओं और बोझ को हल्का करने के लिए उपाय प्रस्तुत करते हैं, "The remedy is in the hands of women themselves. The struggle is difficult for them, but I do not blame them. Man has regarded woman as his tool. She has learned to be his tool and in the end found it easy and pleasurable to be tsuch ....if they only learn to say 'no' to their husbands when they approach Carnally......the real problem is this that they do not want to resist them."

मनुष्य पातकी है सही, उसने नारी पर असंख्य अत्याचार किए हैं, यह भी ठीक; लेकिन ज़िम्मेदारी आकर पड़ती है अन्त में नारी

के ही सिर—यदि उसने विरोध किया होता तो कभी ऐसा नहीं होता !

नारी को नरक का प्रवेश-द्वार घोषित करने वाले व्यक्ति भी इसी श्रेणी के होते हैं। दोनों, अपने-अपने तरीक़े से, नारी को ही ज़िम्मेदार ठहराते हैं। नारी के गर्भ-धारण को, उसके साथ चलने वाले कष्टों और असमर्थताओं को दण्ड और प्रायश्चित के रूप में यह लोग लेते हैं। दण्ड और प्रायश्चित के अभाव में आत्मा हल्की नहीं रह सकेगी, सामाजिक व्यवस्था में भी गड़बड़ हो जाएगी। इस दण्ड से बचने की प्रत्येक सम्भावना को यह लोग ऊँचे मञ्च से कण्डेम करते हैं। अपने लिए दण्ड सहने और प्रायश्चित करने वाली 'स्केप-गोट' को हाथ से किसी हालत में नहीं जाने देना चाहते। दण्ड की उपस्थिति में पाप ग्राह्य बन जाता है, उसके अभाव में वह त्याज्य— It is a sin to bring unwanted children, but it is a greater sin to avoid the consequences." और आगे बढ़ कर प्रेम और वासना की कसौटी भी यही बन जाता है।

श्रीमती सेंगर प्रेम और वासना की दूसरी विभिन्नता पेश करती हैं, "Sex lust is spent in prostitution, the sort of relationship which makes a man run away after the act, disgusted, ashamed of himself, but love is a relationship which makes for oneness, for completeness between husband and wife—there is a natural sex attraction between two people."

श्रीमती सेंगर को निरुत्तर करने के लिए गांधी जी जो उपाय अख्तियार करते हैं, उसे पेश करने के लिए निश्चय ही महात्मा के

साहस की दरकार है। साहस को और भी जायज़ बनाने के लिए वह पहले ही सतर्कता से काम लेते हैं, I dont ask this question to put you in the corner. इसके बाद गांधी जी अपने जीवन का एक ऐसा उदाहरण पेश करते हैं जिसे वह अपने सत्य के प्रयोगों में शामिल करने का साहस नहीं कर सके थे। श्रीमती सैंगर ने जो तर्क पेश किया है, वही तर्क उनके पतन का कारण हो चला था। अपनी पत्नी से गांधी जी असन्तुष्ट थे। बचपन में, नासमझी में की गई शादी, शादी नहीं होती। दूसरी युवती से 'आध्यात्मिक सम्बन्ध' स्थापित करना चाहा—उसके साथ उलझ चले, बिना पतवार की नाव की तरह। कुछ व्यक्तियों ने, जो गांधी जी से छोटे थे—सम्भवतः अनुयायी या शिष्य—उन्हें सचेत किया। गांधी जी संभले—पर आश्चर्य है, अपने लिए नहीं, बल्कि छुट-भाइयों के लिए—"I saw that if I was doomed, they also were doomed!"

किस चीज़ को, किस रूप में और किस खूबी से गांधी जी ने पदार्थ पाठ बना लिया है। नेचुरल सेक्स अट्रेक्शन में गांधी जी का विश्वास नहीं है, इसका उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया। एक ही रूप इसका है जो उनके सामने आया है, which makes a man run away from the act—disgusted, ashamed of himself—वेश्याओं और अवैध सम्बन्धों की की बात जाने दीजिए, अपनी पत्नी के साथ भी। इसे संभालने के लिए ज़रूरत होती है दण्ड और प्रायश्चित की—नारी सहज ही स्केपगोट बन जाती है। हार्डेन्ड सिस्टम, टैबू और सख्त क़ानूनों के सहारे वह इसे कायम रखना चाहते हैं। सन्तति-निरोध इनकी उपयोगिता को दूर कर देता है—नारी के स्केपगोट बनने की सम्भावना

नहीं रहती, विधि-निषेधों और रूढ़िवाद की गृद्ध-दृष्टि से वह बाहर हो जाती है। प्रायश्चित और दण्ड के अभाव में आत्मा कैसे हल्की होगी। देखते-देखते सन्तति-निरोध पापाचार और वासना का प्रतीक बन जाता है। सन्तति-निरोध के साथ चलने वाले तर्कों को गांधी जी मानते हैं, उन्हें दूर भी करना चाहते हैं, लेकिन क़ानून और विधि-निषेधों-द्वारा—पदार्थ-पाठों को सामने रखकर। सन्तति-निरोध का प्रचलन पदार्थ-पाठों को ही ग़ायब कर देता है—आख़िर किस चीज़ को लेकर फिर ऊँचे मंच से उपदेश दिया जाएगा!

शिक्षा का क्रम फिर चलेगा—तीन-चार से अधिक बच्चे पैदा करना पाप है। धीरे-धीरे यह हार्डन्ड कस्टम में परिवर्तित हो जाएगा। इतने पर भी न हो तो क़ानून की शरण ली जाए। क़ानून से काम न चले तो पति-पत्नी को अलग कर दिया जाए। रोटी-पानी का सवाल हल करने के लिए अनाथाश्रम खुलें या स्टेट कोई इन्तजाम करे—ग़रज़ यह कि उपायों का अन्त नहीं!

यहाँ आकर गाड़ी रुक जाती है। श्रीमती सैंगर दूसरा पहलू पेश करती हैं, "Women have feelings as deep and as amorous as man. There are times when wives desire physical union as much as their husbands.' ऐसी अवस्था में क्या हो? सहज विश्वास के साथ गांधी जी कहते हैं, "If artificial methods are avoided, natural methods have to be devised." और इन प्राकृतिक उपायों का मूलमंत्र है संयम—"life is made for self restraint in every way of life." बात यहीं समाप्त नहीं होती। और आगे बढ़कर कहते हैं, "To follow a code of ethics you

must sacrifice health and peace—there are things more important and precious than health, life and well being."

कुछ और आगे बढ़कर बात स्पष्ट हो जाती है। बड़े परिवारों समस्या सामने आती है। गांधी जी कहते हैं, यह मध्य वर्ग की समस्या है—नारी को वह कठपुतली समझते हैं, असंयम का ताण्डव उनके यहाँ होता है। यह नहीं कि निम्न वर्ग में असंयम नहीं है, या अवैध सम्बन्ध उसमें स्थापित नहीं होते, but there is no fertility, it is greater among the middle than the lower class."

फर्टिलिटी असंयम और इन्डल्जेन्स-रनिंग-रायट का प्रतीक यहाँ बन गई है। यहाँ एक और आश्चर्यजनक तुलना पेश की गई है—निम्न श्रेणी के लोगों को भर-पेट खाना न मिलना वरदान के रूप में हमारे सामने आता है—स्टार्वेशन की उपयोगिता सामने रखी जाती है—I had lived in it for twenty one days, but I had no passion. अगले ही वाक्य में इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं. "यह नहीं कि मुझ में वासना नहीं है, वह तो अब भी है। लेकिन स्टार्वेशन वासना के लिए गुञ्जायश नहीं छोड़ता! मुँह बन्द हो जाता है उस समय, जब इस सत्यानुभूति के लिए, "I would sacrifice every thing—even India" की घोषणा सामने आती है!





पाप-मोचन

पाप और वासना को गांधी जी निशाचर मानते हैं—Crime and Vice prowl in the darkness. नैतिक साहस की दुहाई के साथ विधवाओं तथा अवैध सम्बन्ध स्थापित करने वालों को आदेश दिया जाता है कि उन्हें जो करना हो, खुले आम करें—सामाजिक व्यवस्था से दृष्टि बचा कर नहीं। लेकिन यह नैतिक साहस ग़ायब हो जाता है उस समय, जब गांधी जी अपनी पोती के विवाहोत्सव में वर-वधु

को उपदेश देते हैं—अलग ले जाकर, अकेले में, मानों कोई पाप-कर्म करने जा रहे हों—contrary to his wont Gandhiji did not address his remarks to the married couple in the presence of the audience but privately.

पवित्र, पवित्रतर, पवित्रतम् –पवित्रता का जो भी सबसे बड़ा दरजा हो सकता है, उसके सहारे गांधी जी आगे बढ़ते हैं—पाप की भावनाओं को दूर रखने के लिये। दामन संभाल कर, बड़ी अहतियात से आगे क़दम रखते हैं, पवित्रता की गगरी कहीं छलक न पड़े। अग्नि परीक्षा का भव्य दृश्य फिर प्रस्तुत होता है। सती-दाह और जौहर की प्रथा की स्मृति एकाएक ताज़ा हो जाती है। अन्तर इतना ही है कि सती-प्रथा की नौबत पहले आती थी पति के मरने के बाद, जब कि यहाँ रस्म अदा कर दी जाती है विवाह-सूत्र में बंधने से पहले—just on the the threshhold of marriage. अग्नि की साक्षी का महत्व, उसका वास्तविक अर्थ सामने रखा जाता है, "The whole ceremony is performed in the presence of sacred fire. Let the fire make ashes of all the lust in you."

अग्नि पवित्रता की प्रतीक है। वासनाओं को जला कर भस्म वह कर देती है। लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। वासनाओं को वह उत्तेजित करती है—विशेष कर अतृप्त वासनाओं को। दमित इच्छाएँ उभर आती हैं। इक आग-सी वह लगा देती हैं। कुछ होते हैं, जो इस आग को प्रायश्चित के रूप में लेते हैं, कुछ इसी में जीवन महसूस करते हैं और इस जीवन को स्थायी बनाए रखने के लिये निरन्तर आग लगाने की कल्पना वह करते हैं—यहाँ तक कि आग लगाना उनके जीवन का ध्येय हो जाता है। गगनगामी लपटों को देख कर आल्हाद से वह चीख़

उठते हैं—सेक्सुअल एक्साइटमेण्ट का पूरा आनन्द उन्हें मिलना है, सब्लीमेटड रूप में ।

आग की लपटें भव्य दृश्य उपस्थित करती हैं—ऐसे दृश्य जिन्हें गांधी जी भूल नहीं सके हैं। उनके सहारे, बन्धन मुक्त होकर, आकाश की सैर उन्होंने की है। जीवन का आनन्द देने वाली चीज़ों में 'बॉन फायर', छोटे और बड़े पैमाने पर, विशेष स्थान रखती हैं। व्रत-प्रायश्चित और पवित्र प्रयोग की निर्मल पवित्रता का उल्लेख करने के बाद, काँपते हाथों से, दियासलाई वह दिखाते हैं और अगले ही क्षण जैसे समस्त बन्धन अपने-आप टूट कर गिर जाते हैं, "It was the most inspiring sight. As the flame leapt up and enveloped the whole pyramid, there was a shout of joy resounding through the air. It was as if our shackles had been broken asunder—a glow of freedom passed over the whole concourse!"

बन्धन मुक्त करने के बाद गांधी जी सतर्क होते हैं—विधि-निषेधों की फिर सृष्टि होती है, संयम और धर्म के नाम पर। असंयम और दुराचार के भयावने दृश्य वह प्रस्तुत करते हैं, एक्साइटेड जीवन के अन्त की कल्पना से वह काँप उठते हैं। जब तक एक्साइटमेंट है, तब तक जीवन है। इसका व्यतिक्रम होने पर सर्वनाश और मृत्यु।

जीवनदात्री अग्नि का पवित्र स्पर्श कराने के बाद सेक्सुअल एक्ट पर गांधी जी आते हैं। पवित्रता का आवाहन क्लाइमेक्स पर यहाँ पहुँचता है, अन्यथा सर्वनाश हो जाएगा—"The whole conception is sacred. The act therefore is to be performed prayerfully. It is not to be preceded by the usual

courtship designed to provide sexual excitement and pleasure."

काम वासना और सेक्सुअल एक्साइटमेंट के अभाव में एक्ट ऑफ क्रिएशन को पार लगाने वाली प्रार्थना, प्रेस और प्लेटफार्म पर पूरा अधिकार होते हुये, चीना मेडीकल स्टोर जितना भी स्थान प्राप्त नहीं कर सकी। काम-वासना और स्वच्छन्द प्रेम की भ्रान्ति ने—there was never a more ruinous supersition—इस हद तक इसे तोप लिया है। विवाह का एक मात्र उद्देश्य आत्म-संयम और सेक्सुअल पैशन का सब्लीमेशन खंडित हो जाता है।

पति-पत्नी की नयी, गांधियन परिभाषा सामने आती है। पति स्वामी होता है, पत्नी स्वामिनी—दोनों एक-दूसरे के गुरु और गुरुआइन, each master of the other. गुरु और शिष्य, पदार्थ-पाठ बनकर, एक-दूसरे के समकक्ष आजाते हैं। इसके बाद उपदेश चलता है। पतियों को, भावी और वर्तमान, आदेश दिया जाता है, "To you boys I would say that if you are gifted with better intellects and richer emotions, infect the girl with them. Be their true teachers and guides, help them and guide them, but never hinder or misguide them."

प्लैटोनिक लव, आध्यात्मिक प्रेम, में गांधी जी विश्वास नहीं करते। एक्ट ऑफ क्रिएशन, सन्तानोत्पत्ति में भी वह बाधा नहीं देना चाहते; लेकिन इससे पहले अग्नि-परीक्षा का होना ज़रूरी है, एक्ट ऑफ क्रिएशन को पाप-मुक्त करने के लिए—if progeny is wanted,

marriage performed in a strictly religous spirit is essential.

पाप-मोचन के रूप में गांधी जी विवाह को लेते हैं। प्रायश्चित का क्रम इसके बिना पूरा नहीं हो सकता। Selfish purpose of begetting childern and running a household को संभालने के लिये प्रायश्चित और प्रार्थनाओं का अस्तित्व ज़रूरी है। सत्य का जिसने वरण किया है, वह विवाह नहीं कर सकता—विवाह सत्य के प्रति विश्वासघात करना होगा। एक ही म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं—one cannot keep two mistresses at a time. एक-पत्नीव्रत भी यहाँ बाधा बन जाता है—सत्य की सेवा का अवसर वह नहीं रहने देता; पत्नी के अलावा और किसी की ओर आँख उठाने की गुञ्जायश नहीं रहती, "If a man gives his love to one woman and a woman to one man, what is there left for all the world besides? It simply means, 'we two first and devil take all the rest of them!"

आगे चल कर बात और भी स्पष्ट हो जाती है। विवाहितों के सामने विभिन्नता पेश की जाती है, The very thought that all the women in the world are one's sisters, mothers or daughters will at once ennoble a man and snap his chains. The husband and wife do not lose anything here, but only add to their resources and even to their family.

अन्य कतिपय विधि-निषेधों, Sex taboos and inhibitions

के साथ-साथ, एक ही पंक्ति में, विवाह खड़ा हो जाता है। पुरुष-नारी का, दो आत्माओं का, समाज सङ्गत और सर्वसम्मत मिलन न होकर निषेधात्मक रूप वह अख्तियार कर लेता है—to be performed in a strictly religous spirit. निश्चित रूप में बन्धन वह बन जाता है। न-केवल इतना ही, बल्कि सभ्यता के विकास का, प्रगति का, मापदड भी बन्धनो का दृढ़तर होते जाना घोषित किया जाता है, "True progress will draw more closely rather than relax the marriage bond." मुक्ति मिलती है उस समय जब पति अपनी पत्नी को उसी दृष्टि से देखना शुरू करता है, जिससे कि वह मायके में देखी जाती थी!





प्रेम की पुकार

विधि-निषेधों, आत्म-संयम और नियंत्रण की दुनिया में प्रेम का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। काली छाया समझ कर एक कोने में उसे खड़ा कर दिया जाता है। यह इसलिये कि स्वतंत्र होने पर वह सब को तोप ले सकता है, "The other conditions are liable to be overshadowed by it altogether and rendered more or less nugatory. विवाह का उद्देश्य उसे बन्धन में बांधना होता है। विधि-निषेधों और तत्सम्बन्धी सामाजिक बन्दिशों

की बात सब से पहले आती है—safe rule of conduct would be as a rule to respect such taboos.

विवाह-बन्धन की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये प्रेम का अस्तित्व भी जरूरी है। पिञ्जरा तैयार करने के बाद प्रेम की पुकार होती है। Marriage when there is no love should equally be ruled out even though all the other conditions are fully complied with.

वर-वधु के स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों पर विचार करना ज़रूरी नहीं होता—स्वयं सिद्ध चीज़ के लिये परेशान होना, उसे शर्त बना कर पेश करना, उसका अपमान करना है, "I should score out the condition of eugenic fitness, because the begetting of offspring being the centeral purpose of marriage eugenic fitness can not be treated merely as a condition. It is the sine qua non of marriage. स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों का बाधा बनना ज़रूरी नहीं। इसलिये और भी अधिक कि whoever is spiritually minded must show a better, not necessarily a longer life.

प्रेम खम्बे से बाँध दिया जाता है—एक-पत्नीव्रत के, monoganic marriage is conscience of all social life, instinct of love a tyrant. संयम-वीरों का काम चौकीदारी करना होता है, voluntary celibates serve the purpose of protection—true monogamy rises or falls with the esteem that is paid to celibacy.

इसका व्यतिक्रम करने वाले no better than an exploiter and a parasite, a thief and a swindler हो जाते हैं !

कोमल पहलू भी इसका है। सोलह वर्ष की एक वैश्य युवती का केस गांधी जी के सामने आता है। इक्कीस वर्ष के मामूज़ाद भाई से उसका प्रेम हो गया। अगली स्टेज गर्भ को लेकर आती है, यवनिका पतन होता है आत्महत्या के साथ। गांधी जी दुखित होते हैं, समाज की हृदयहीन नृशंसता को खोल कर रखते हैं, height of tyrany to drive them to commit sucide. समाज को इसका अधिकार नहीं। अधिक से अधिक, समाज के अधिकार पर गांधियन पानी चढ़ाते हुये कहते हैं, "समाज उनके विवाह को स्वीकार करने से इन्कार कर सकती है !"

गांधी जी के भोलेपन का क़ायल होकर आगे बढ़िये। समाज के अधिकार की सीमा बांध कर युवकों को आदेश देते हैं। सामाजिक मर्यादा से उन्हें बाहर नहीं जाना चाहिये, "Youth need not override roughshod over all the established customs and inhibitions." यदि ऐसा करना ही तो उन्हें, क़दम बढ़ाने से पहले, जनमत को अपनी ओर कर लेना चाहिये।

समाज को फिर उपदेश दिया जाता है, उसे भी हृदय हीन विमाता नहीं बन जाना चाहिये।

जनमत संगठित करने का सब से अच्छा तरीक़ा खुद पदार्थ-पाठ बन जाना है—जिसे खुद हम न कर सकें, उसे दूसरों से करने के लिये नहीं कहना चाहिये। लेकिन यहाँ यह वर्जित है। बापू-पद से निर्णय दिया जाता है, "Truest mercy lies in not making a bad law."

विधवाओं को भी इसी तरह का उपदेश दिया जाता है। "Widows need to be told not to sin secretly, but to come out boldly and cultivate public opinion to make child marriages impossibee."

फोड़ा हुआ है पाँव की उँगली में, या शरीर के किसी अङ्ग विशेष में, लोकल ट्रीटमेंट की ज़रूरत है, लेकिन यहाँ रन्दा चला दिया जाता है सम्पूर्ण शरीर पर। बड़ी पीड़ा के सामने छोटी पीड़ा मन्द पड़ जाती है। जनमत का खम्भा तैयार रहता है, उस पर चढ़ो-उतरो—सब व्याधियाँ दूर हो जाएँगी!

एक बात और भी। बाल-विवाह गांधी जी के सामने खास तरह का चित्र खड़ा करता है—वृद्ध या अनमेल विवाह जैसा, जिसमें पति बालिग़ होता है और पत्नी नाबालिग़—जिस अवस्था में भी विधवा हो, उस पर हाथ पड़ना हमेशा rape of a tender girl बन जाता है। लगता है, जैसे वह निजी अनुभूति व्यक्त कर रहे हैं, विधवा से अधिक he is being raped!

बाल-विवाह का कारण वह वासना मानते हैं—पुरुष जो हमेशा बालिग़ होता है अपनी वासना की तृप्ति के लिये बाल-पत्नी से विवाह करता है। इस महा पातक से बचने का उपाय बताया जाता है पत्नी को बहिन की तरह रखे, उसे शिक्षा-दीक्षा दे—जब तक कि वह बालिग़ न हो जाये!

अनेक कारण इस अनुभूति के हो सकते हैं। गांधी जी के पिता ने वृद्धावस्था में चौथा विवाह किया था—विषयासक्ति की वजह से। इस विवाह की चौथी सन्तान वह थे—निर्बल और कृषकाय। फिर उनका बाल-विवाह हुआ। पिता की आलोचना करना पितृ-द्रोह है—

क़ाज़ी बनना है। अचेतन मस्तिष्क ने दूसरा रास्ता अख्तियार किया—विरोध करते हैं बाल-विवाह का, चोट पड़ती है वृद्ध-विवाह पर !

जनमत संगठित करने पर अभी और भी। इस दिशा में किए गए प्रत्येक प्रयत्न का महत्व व्यक्तिगत से आगे कभी नहीं बढ़ पाता। उदाहरण अपवाद बन जाते हैं और उन्हें पेश करने वाले ड्रेन-इन्स्पैक्टर। ज़ुबान की हल्की सी हरकत से उन्हें बेबाक कर दिया जाता है— स्वस्थ व्यक्तियों की एक भी मिसाल नहीं पेश कर सके।

श्रीमती सरोजिनी नायडू, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहर लाल नेहरू तथा अन्य कतिपय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों की राय को गांधी जी, आसानी से, व्यक्तिगत की उपाधि से विभूषित कर बालाए ताक़ रख सके हैं। लेकिन दृश्य बदल जाता है उस समय, जब दूसरा पक्ष सामने आता है। अमरीका से किसी सिम्पसन नामक महिला का पत्र आता है, सन्तति-निरोध के खिलाफ़—If India follows the west in this, she will surely lose two of her most priceless and beautiful jewels: affection for little children and reverence for parenthood.''

यह पत्र गांधी जी के लिये सब से बड़ी नज़ीर बन जाता है। और कुछ कहने-सुनने की जैसे अब ज़रूरत नहीं रह जाती। इसका सब से अधिक उल्लेखनीय पहलू यह है कि पत्र लेखिका 'मिस' हैं !





मधु-दर्शन

पति-पत्नी को स्वामी-स्वामिनी, एक-दूसरे के गुरु-गुरुआइन के रूप में पदार्थ-पाठ बनाकर गांधी जी आगे बढ़ते हैं। घर-संसार को शान्त, निर्मल, सुखी और ऊर्ध्वगामी बनाने के प्रयोग पेश करते हैं। मधुपर्क, परस्पर-दर्शन, की रस्म सामने आती है। पदार्थ-पाठ बना कर उसे सामने रखते हैं—दुनिया में मधु की कमी नहीं है—इस हद तक कि मधुपर्क की रस्म उसके सामने फीकी पड़ जाती है। लेकिन इस संसार में ऐसे अभागों की भी कमी नहीं है, जिन्हें मधु के दर्शन भी नसीब नहीं होते। दुनिया में फैला हुआ मधु एकदम आकाश-कुसुम हो जाता है। ऐसी

अवस्था में मधुपर्क की रस्म स्वार्थ-पूर्ण हो जाती है, उसका आनन्द जाता रहता है, "if only you will partake of it after the rest of the world has taken share of it. It means enjoyment through renunciation."

एकाएक यहाँ एक विभिन्नता और उभरी आरही है, पुराने ज़माने में अतिथियों की सेवा-शुश्रुषा के लिए सद्गृहस्थ अपनी लड़कियों को भेंट करते थे। घर की बहू पर मर्यादा भङ्ग होती थी—उसकी ओर दृष्टि-निक्षेप जान लेने-देने के दृश्य प्रस्तुत करता था। आज भी कतिपय जातियों में यह प्रथा, कमो बेश रूप में, वर्तमान है। अन्य सद्गृहस्थों के यहाँ भी, पुत्र के साथ-साथ, कन्या का जन्म ज़रूरी समझा जाता है। दूसरे की कन्या लेकर जो ऋण अपने ऊपर लिया है, बिना अपनी कन्या का दान दिए वह पूरा नहीं होता। स्वयं गांधी जी भी एक्ट-आफ-क्रिएशन को ऋण-मुक्ति के रूप में लेते हैं। ऋण का बोझ उतारने के लिए ही यह होना चाहिए, अन्यथा नहीं।

व्यावहारिक परामर्श देते-देते गांधी जी सतर्क हो उठते हैं। ढोंग की चेतना सिर उभारती है। पदार्थ-पाठ पेश करते हैं, "Dont be hypocrites, dont break your health in the vain effort of performing what may be impossible for you."

नये जामे में सतर्कता अपने को पेश करती है। जो असम्भव है, उसे पाने का व्यर्थ प्रयत्न कर अपनी क्षति न करो। बस इतने पर ही नहीं होती—ऐसे प्रयत्नों को ढोंग से सम्बद्ध किया गया है। अपने को, अपने से अधिक बापू को, धोखा देना ठीक नहीं। कसौटी भी इस-

की पेश की गई है—आत्म-संयम से, बशर्ते कि वह वास्तविक हो, कभी क्षति नहीं होती; क्षति होती है ढोंग से, बाहरी प्रदर्शन से।

प्रयत्नों की असफलता और क्षति को, ढोंग से सम्बद्ध कर, मुँह काला करने के बाद गांधी जी व्यावहारिक परामर्श पेश करते हैं, अपनी सामर्थ्य को समझ कर आगे बढ़ो। परामर्श माकूल है। अगले वाक्य में कसर और भी पूरी हो जाती है। कहते हैं, "आदर्श को पाने के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रयत्न करो, जहाँ तक और जितना भी हो सके।" माकूलियत की सीमा और बढ़ती है। परामर्श की अगली स्टेज और भी माकूल बनकर सामने आती है, "लेकिन यदि सफलता न मिले तो लज्जा, सङ्कोच और दुःख में डूबने की जरूरत नहीं।"

यहाँ ठिठकने की ज़रूरत है—निर्लज्जता का यह लैण्डमार्क महत्वपूर्ण है, आदर्श और उसे पाने के प्रयत्नों की सफलता-असफलता से अधिक गांधी जी को समझने के लिए।

आत्म-संयम को देवत्व और उससे विपरीत अवस्थाओं को शैतान से सम्बद्ध कर, असफल होने या चूक जाने पर सेंस आफ़फ्रस्ट्रेशन, लज्जा, सङ्कोच और अपराधी आत्मा की प्रताड़ना की सम्भावना को दूर रखने के लिए, निस्सन्देह, महात्मा के नैतिक साहस की ज़रूत है।

अपराधी आत्मा की प्रताड़ना, सेंस आफ़ गिल्ट और फ्रस्ट्रेशन, बापूवाद की सब से बड़ी देन है। आत्म-संयम और नियंत्रण की ज़मीन पर बापूवाद की इमारत खड़ी होती है, इसके अभाव में शक्ति का ह्रास, घातक परिणामों के चित्र पेश किए जाते हैं—as ruinous as masterbation.

अपराधी आत्मा की इस प्रताड़ना से, आत्म-सयंम और नियंत्रण की दुनिया में, बचना असम्भव है। कुछ होते हैं जो इससे काम

चलाऊ समझौता स्थापित कर लेते हैं, कुछ इसे बालाए ताक़ रख देते हैं और कुछ इससे फ़ायदा उठाते हैं—पदार्थ-पाठ बना कर। साधन यह बन जाती है—if the sense of guilt remains, is complicated by tendencies to self-abasement, remorse, self-torture, self-punishment or penance in whatever form, it is certain that this sense of guilt has become a very useful tool in the attainment of his goal.

ऐसे व्यक्ति भावनाओं से उलझना शुरू करते हैं। उनकी विजय और हार, दोनों, भावना-प्रधान होती हैं। अनुभव की वास्तविकता में नहीं, बल्कि विचारों और भावनाओं की वास्तविकता में वह विश्वास करते हैं—not the reality of experience, but the reality of thought counts with them.

आत्म-संयम, मानव-जीवन का एकमात्र ध्येय, विचारों की पवित्रता से शुरू होता है—शारीरिक पवित्रता-अपवित्रता गौण होती है। कार्य रूप में परिणत होने पर, साधनों की अक्षमता की वजह से, वह भ्रष्ट भी हो जाती है। भावनाएँ ही प्रमुख हो जाती हैं। व्यावहारिक परामर्श आगे बढ़ता है, 'विचारों की पवित्रता पर हमेशा ध्यान रखो। सब कुछ फिर ठीक ही होगा—there is nothing more potent than thought. the world is a result of mighty thought and where the thought is mighty and pure the result is always mighty and pure."

विचारों की पोटेन्सी के आगे कुछ नहीं ठहरता। अचूक वह होती है। असफलता और तज्जनित दुःख, सेंस आफ गिल्ट और लजा

की सम्भावना यहाँ सिर नहीं उठाती। परिणाम अन्यथा होने पर, हर सूरत में, स्केपगोट तय्यार रहती है—या तो विचार अपवित्र रहे अथवा साधन भ्रष्ट। अपने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। परोपकार और सेवा का व्यावहारिक प्रयोग सामने आता है—ऐसी महान आत्मा does not fear punishment for himself, but for others. व्रत-प्रायश्चित किए जाते हैं—अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए।

विचारों की पोटेन्सी में गांधी जी का अटूट विश्वास है—विशेष कर अपने विचारों की। वह कभी ग़लत हो ही नहीं सकते। परिणाम उनका सदा अच्छा ही होता है—यह दूसरी बात है कि बहुत अच्छा न हो कर, कभी-कभी, वह कम अच्छा होता है, लेकिन अच्छा वह अवश्य होता है।

पूर्णरूपेण अच्छा बनाने के लिए असम्भव शर्तों का निर्माण होता है—इस हद तक कि सहयोग असम्भव हो जाता है। इसकी चिन्ता भी उन्हें नहीं होती—ग़लत और भ्रष्ट सहयोग से तो यह कहीं अच्छा है कि वह दूर ही रहे। शर्तों की दीवारें चारों ओर खड़ी की जाती हैं, शङ्का के साथ-साथ दीवारों की ऊँचाई भी बढ़ती जाती है—more walls, more anxiety; more anxiety, more high walls. यहाँ तक कि सिवाए अपने कर्मभूमि में और कोई नहीं रह जाता!

विचारों की पोटेन्सी बालहठ बनकर मदद करती है। असफलता भी उसके स्पर्श में आकर सफलता बन जाती है, ग़लतियाँ सही बन कर सामने आती हैं और अनुभवहीनता एक अछूता गुण। अगर-मगर-पुराण की फिर सृष्टि होती है, जीवन की वास्तविकता व्यक्तिगत

अपमान बन जाती है और व्यक्ति looks upon himself as an emanicipated being !

विचारों की पोटेन्सी कभी-कभी भ्रम में भी डाल देती है। दुःखद क्षण तब सामने आते हैं। परिस्थितियों या बीमारी की वजह से अवकाश ग्रहण करने पर शङ्काएँ और मानसिक द्वन्द घनीभूत हो उठते हैं। मालूम होता है, विचारों की पोटेन्सी को निस्संग और अछूता नहीं रखा जा सका—स्पर्श-संसर्ग ने उसे भ्रष्ट कर दिया है।

एक बात और भी। यह संसर्ग-स्पर्श दुनिया से नहीं, वरन् अपने से सम्बन्ध रखता है—गीता के आदेशों का पालन निस्संग और तटस्थ रह कर नहीं कर सका—allowed them to arouse my emotional being and thus affect my nerves." दूसरे शब्दों में, "They have not, as they should have in a votary of Gita, left my body and mind untouched." इसके बाद, और भी आश्चर्यजनक रूप में गांधी जी अपने को व्यक्त करते हैं। कहते हैं, मेरा यह निश्चित विश्वास है, चिरन्तन माता को जिसने अपने सामने रखा है, उसका मस्तिष्क कभी वृद्ध नहीं होता—विचारों की पोटेन्सी क्षीण नहीं होती। उपमा और भी विचित्र देते हैं, ऐसे व्यक्ति का शरीर, समय आने पर, स्वस्थ वृक्ष के पत्तों की तरह झड़ जाता है, मस्तिष्क मगर सदा की तरह तरोताज़ा बना रहता है—पोटेन्सी गायब नहीं होती !

गीता को लेकर पोटेन्सी के चूक जाने की यह बात है। ब्रेकडाउन शुरू होता है गरदन की पीड़ा से। डाक्टर, सेठ जमनालाल बजाज और सरदार पटेल गांधी जी को आराम करने के लिए मजबूर करते हैं। इन मजबूरियों के सामने गांधी जी और भी असहाय हो उठते

हैं। व्यक्तिगत अपमान और लाञ्छन की भावना, विचारों की पोटेन्सी के चूक जाने के दुःख के साथ, तीखे मानसिक क्लेश को जन्म देती है। क्लाइक्मैस पर पहुँचती है यह उस समय जब उन्हें इस अवस्था में, मगनवाड़ी से हटा कर महिलाश्रम में ले जाया जाता है।

स्थिति और भी विकट हो चलती है। महिलाश्रम में पहुँच कर पोटेन्सी स्खलित हो जाती है। गांधी जी सोचते हैं, "सन १८६६ से मैं ने ब्रह्मचर्य का पालन किया है—सचेत और जागरूक रह कर। छत्तीस साल तक मैं ने इसके लिए निरन्तर सजग प्रयत्न किए हैं। केवल एक अपवाद को छोड़कर, इतना अधिक विचलित मैं पहले कभी नहीं हुआ। मैं अपने से खीज उठा। जैसे ही मेरे मन में इच्छा पैदा हुई, अपने तीमारदारों और डाक्टरों पर मैं ने उसे प्रकट कर दिया। वह मेरी कोई मदद नहीं कर सके। खुद मुझे भी इसकी आशा नहीं थी।"

बोझ हल्का होता है इस दुःखद अनुभव को वाणी-द्वारा व्यक्त करने के बाद, the confessions of the wretched experience brought much relief to me.

गांधी जी के कन्फैशन्स, महान नैतिक साहस के रूप में, हमारे सामने आते हैं, जबकि यह दुस्साहस बन बैठते हैं उन लोगों के लिए जो इच्छा को वाणी-द्वारा व्यक्त करने से ही हल्के नहीं हो पाते। पापाचार का ताण्डव वहाँ होने लगता है!

इसकी अगली स्टेज और भी महत्त्वपूर्ण है। गीता का फिर खयाल आता है। इस दुःखद अनुभव को गीता के प्रति विश्वासघात के रूप में वह लेते हैं—a mind that is hooked to the star of stars is incorruptible. सतीत्व-भङ्ग की दुःखद चेतना, सेंस

आफ गिल्ट, सिर उभारती है। अगले ही क्षण वह संभल जाती है—उपयोगी रूप में, पदार्थ-पाठ बनाकर, उसे पेश किया जाता है, महात्मा शिप की गुरुडम के भङ्ग होने का अवसर मिला—मेरा अहम्-भाव नष्ट हुआ, "We should develop swelled heads if divinity had not made that reservation." शर्म की भावना ग़ायब हो जाती है, "But I am not so much ashamed of them, as I should be of hiding them from the public." गीता के साथ सम्बन्ध और भी दृढ़, और भी निर्मल, और भी उज्ज्वल हो उठता है!





वृद्धि का नियम

सत्याग्रह में कम-से-कम ही ज्यादह-से-ज्यादह है। जो कम-से-कम है, उसमें से और छोड़ा ही क्या जा सकता है। मनुष्य के कभी

पीछे हटने की सम्भावना यहाँ नहीं रहती—स्वाभाविक क्रिया वृद्धि ही होती है।

सत्य और अहिंसा की भाषा के सहारे वृद्धि का नियम आगे बढ़ता है। शुद्ध सत्य में कुछ घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। जो सब से कम है, वही शुद्ध सत्य है। त्याग-तपस्या और अपरिग्रह की मदद से शुद्ध सत्य को पाने का आदेश सामने आता है। माँगें पेश की जाती हैं—दीवार के स्पर्श को महसूस करके, पीछे हटने की जिससे सम्भावना न रहे।

माँगों को एक कोने में खड़ा कर दिया जाता है, शुद्ध सत्य का पदार्थ-पाठ बना कर। आगे क़दम बढ़ाना इसलिए सम्भव नहीं कि शुद्ध सत्य विकृत हो जाएगा। संयम के देवदूत, भोग लोलुपता का काला पुचारा लिए, एक-दो-तीन करते हैं, पटाखे की आवाज़ के साथ परदा उठता है—वृद्धि के नियम का सजीव अभिनय प्रस्तुत करने के लिए।

वृद्धि के इस नियम का एक अपना विकास-क्रम रहा है। अनघड़ और प्रारम्भिक अवस्था में लज्जा और सङ्कोच के अवसरों और असहायावस्था को वह जन्म देता है। विष की घूट बन कर वह सामने आता है। बाद में भी उसका यह रूप नहीं बदलता, वरन् चमड़ी के मोटी हो जाने से उसका प्रभाव उतना दुःखद नहीं रहता। मार का दुःख एक हद तक ही होता है। चमड़ी के सुन्न पड़ जाने पर दुःखद चेतना ग़ायब हो जाती है—मार खाना आनन्दोपलब्धि और मनोरञ्जन का साधन बन चलता है। सिद्धान्त सामने आता है, "दुःख की वृद्धि के साथ दुःख का अन्त निकट आता जाता है।" कारण इसका बताया जाता है, "दुःख की निर्दोषिता अधिकाधिक प्रकट होती गई और लड़ाई का अन्त निकट आता गया।"

दुःख और लड़ाई के कारण इससे दूर नहीं होते, वरन् उनका अस्तित्व ज़रूरी हो जाता है। शुभ दिन की सम्भावना निकट लाने के लिए कष्टों का होना आवश्यक हो उठता है। कष्ट साधन हैं और शुभ दिन साध्य। साधन ठीक होंगे तो साध्य अपने-आप आ जाएगा। सत्य के शोधक को साध्य के पास नहीं जाना पड़ता, वह अपने-आप उसके पास चला आता है। कष्टों का भण्डार, उन्हें सहने की सामर्थ्य, अक्षुण्ण होनी चाहिए, शुभ दिन कच्चे धागे से बंधा हुआ चला आएगा।

वीरता के साथ कष्टों का सहना इतना स्वाभाविक हो जाता है, जितना कि सांस लेना। कष्टों का अन्त हो जाने पर, लगता है, काम बन्द हो गया—लक्ष्य आँखों से ओझल हो गया।

साधन और साध्य एक हो चलते हैं—कष्ट सहना ही प्रमुख हो जाता है। विशेष प्रिविलेज, सुविधा और अभ्याशी के रूप में उसे लिया जाता है। विशेष योग्यता प्राप्त कर लेने पर ही उसकी सुविधा दी जा सकती है। दण्ड देने के लिए भी उसका उपयोग होता है—व्यक्ति, समुदाय या जाति विशेष को उससे वञ्चित करके, डिसक्वालिफाई उन्हें कर दिया जाता है—कष्ट सहने के योग्य पात्र नहीं!

"घर-बार बना कर बैठने के बाद एक जगह जम कर बैठना मेरे भाग्य में लिखा ही नहीं..मेरे मन्सूबे ईश्वर ने बहुत बार पार नहीं पड़ने दिए हैं...इस अपमान से मेरे दिल को चोट पहुँची, पर इससे पहले मैं ऐसे अपमान सह चुका था, अतएव इस अपमान की परवाह न करके तटस्थ भाव से जो कुछ दिखाई पड़े, उसे करने का निश्चय किया।"

तटस्थ भाव, गीता का निष्काम-कर्म यहाँ प्रवेश करता है। मार का अभ्यस्त हो जाना कर्मयोग का पदार्थ-पाठ बन कर सामने आता

है। दिखाई पड़ने का जहाँ तक सम्बन्ध है, सत्य के शोधक को यह भी पता नहीं चलता कि उसका अगला क़दम क्या होगा। प्रगति पदार्थ-पाठ बन कर सामने आती है—जंगल में भटक कर जिस तरह पथिक अपने-आप बाहर निकल आता है!

कोई भी मन्सूबा पूरा नहीं पड़ सका, प्रत्येक काम को बीच में छोड़ देना पड़ा, जम कर कुछ करना भाग्य में नहीं लिखा—यह सब स्थितिएँ कड़ुवी बादाम और विष की घूँट बन कर सामने आती हैं, लेकिन बाद में पदार्थ-पाठ बन चलती हैं—"बाल-बच्चों का वियोग, जमा हुआ काम तोड़ देना, निश्चिन्तता से अनिश्चित्तता में प्रवेश करना—यह सब क्षण-भर के लिए खटका, पर मैं तो अनिश्चित जीवन का आदी हो गया था..... "

इसलिए खटक जाती रही। ईश्वर और सत्य मदद के लिए आते हैं। पदार्थ-पाठ पेश किया जाता है, ' ईश्वर और सत्य के सिवा कुछ निश्चित नहीं।" उत्साह बढ़ा, साहस की वृद्धि हुई और पहले जिस काम को शुरू करके बीच में छोड़ने पर लज्जा घृणा और अपनी असामर्थ्य पर आँसू बहते थे, वहाँ अब यह गुण बन चला—महान नैतिक साहस के रूप हमारे सामने यह रखा जाता है, गांधी जी की सब से बड़ी विशेषता!

इक्कीस दिन के महान और ऐतिहासिक व्रत के परिणाम-स्वरूप सर्वदल-सम्मेलन का अस्तित्व सम्भव हुआ। उसके पैदा होते देर भी न हुई थी कि दफ़नाने की नौबत आ गई। गांधी जी के 'कन्फेशन्स', स्वीकारोक्तिएँ ट्रे चरस विट्रे यल्स होते हुए भी, नैतिक साहस का पदार्थ-पाठ बन कर सामने आती हैं। जिन को स्वीकार कर और किसी का जीता रहना मुश्किल हो जाता, उन्हीं की ज़मीन पर गांधी जी का जीवन

खड़ा हुआ है—हमारा विष उनके लिए अमृत हो गया है। पहले जिन विष की घूँटों को खुद उन्हें पीना पड़ा, उन्हें अब दूसरों को पिलाना शुरू किया—निस्वार्थ और निष्काम सेवा-भाव का पदार्थ-पाठ बना कर। सब से बड़ी सेवा वह इस तरह करते हैं। साबरमती के बछड़े से तुलना दी जाती है—"न ज़िन्दा रह सकता था, न वह मरता ही था, उसे स्वर्ग में पहुँचाने की आवश्यकता थी। गांधी जी के सिवा उसकी अन्तिम सेवा करने की हिम्मत और किसमें थी?"

अन्तिम सेवाओं की ज़मीन पर वृद्धि का नियम खड़ा हुआ है। सफलता की व्याख्या असफलताओं का अन्तिम पटाक्षेप बन कर आती है। पदार्थ-पाठ सामने आता है, "अन्तिम लक्ष्य पर एक ही बार तो पहुँचा जा सकता है।" मौत भी एक बार ही आती है—मानव की सब से बड़ी और सब से अन्तिम सेवा। प्रगति का सार-तत्त्व फिर पेश किया जाता है, "अपनी शक्ति हर प्रयोग' बढ़ी, दमन भी बढ़ा—दोनों क़दम-से-क़दम मिला कर। पहले हार, फिर संधि। फिर हार, फिर संधि—राष्ट्र आगे बढ़ा, आख़िर अन्तिम लक्ष्य पर एक ही बार तो पहुँचा जा सकता है।"

अनेक रूपों में यह प्रगति पेश की गई है, हार और संधि के इस क्रम को, जहाँ से चले फिर वहीं पहुँच जाने को, चक्करदार प्रगति के रूप में भी पेश किया गया है। तुलना दी गई है पहाड़ की चढ़ाई से—चक्कर खाकर जिस तरह पहाड़ पर चढ़ जाते हैं, उसी तरह एक दिन अन्तिम लक्ष्य पर भी पहुँच जाएंगे। पहाड़ की चढ़ाई का एक जगह प्रयोग और हुआ है, "सन् २१ में पहाड़ की चोटी से जो पत्थर लुढ़कना शुरू हुआ था, सन् ३० में वह नीचे आ रहा!"

प्रगति और उसके विकास-क्रम का परिचय विभिन्न रूपों में सामने

आता है। पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर नीचे लुढकने पर ही बस नहीं है। वह एक ऐसी मोटर बन कर सामने आती है, जिसे चलाने के लिये पहले धकेलने की ज़रूरत होती है और कुछ दूर चलती रह कर फिर ठप हो जाती है और फिर धकेलने की ज़रूरत पड़ जाती है। उन वृक्षों की तरह वह हो जाती है जो पहले मुरझाए हुए और सूखे दिखते हैं और बसन्त आने पर फिर हरे-भरे हो जाते है। उस जानवर से उसकी तुलना दी जाती है जो एक मौसम में तो मुर्दे की तरह पड़ा रहता है और मौसम बदलते ही उसमें विशाल शक्ति आ जाती है।

वृद्धि के नियम का पालन करने से पहले बाक़ायदा तैयारिएँ करनी पड़ती हैं। इन तैयारियों का एक अपना महत्व है—प्रगति से भी अधिक। रचनात्मक कार्य के रूप में उनका परिचय सामने आता है। मोटर के चलते-चलते रुक जाने पर धकेलने की क्रिया, तत्सम्बन्धी अन्य प्रयत्न, इसका अङ्ग हैं। जब संघर्ष, प्रगति, सम्भव नहीं होती, तब रचनात्मक कार्य कराया जाता है। इसके अभाव में राष्ट्र असङ्गठित और बदहवास हो जाएगा। विशेष व्याख्या सामने आती है—सैनिक खाइयाँ खोदते हैं, जो पुनः भर दी जाती हं। लम्बी कूच बोली जाती हैं, जो किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँचातीं। निशाने मारे जाते हैं, जिनसे कोई नहीं मरता। नकली लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं, जिनसे...''

रचनात्मक कार्य के भी विभिन्न रूप हैं। प्रगति यहाँ साध्य बन जाती है और रचनात्मक कार्य साधन—साधन ठीक होगा तो प्रगति अपने-आप चली आएगी। प्रगति ही स्वराज्य का स्थान प्राप्त कर लेती है। परिचय सामने आता है, "स्वराज्य परिणाम नहीं, उपाय मात्र है; फल नहीं, प्रयत्न मात्र है; गन्तव्य स्थान नहीं, दिशा मात्र है। कारीगर से यह पूछने का किसी को अधिकार नहीं, प्रासाद अभी तक

तैयार क्यों नहीं हुआ ? वह अभी नींव को ठोक-पीट कर तैयार कर रहा है। पक्की और ठोस होने के लिए मामूली नींव को भी एक-दो वर्षों के लिये छोड़ दिया जाता है, फिर स्वराज्य की नींव को पक्का होने के लिये तो न-जाने कितने वर्षों के लिये छोड़ना पडेगा।"

नींव का पक्की होना ज़रूरी है। शेष काम अपने-आप पूरा हो जाएगा। नींव पक्की हो गई है, अपनी पोटेन्सी और सक्षमता में कोई कसर नहीं है, यह देखना पहली बात है। इसकी जाँच भी की जाती है—'ट्रायफ़ल्स' को लेकर। सक्षमता की जाँच की यह क्रिया, ट्रायफ़ल्स में पोटेन्सी का कन्फर्मेशन पाना, गांधी जी के सारल्य का पदार्थ-पाठ बन कर हमारे सामने आती है। श्रद्धा के सहारे यह सारल्य और भी ऊँचे चढ़ जाता है। परिचय सामने आता है, "गांधी जी हर काम में स्वराज्य-देवता के दर्शन करते हैं। उनकी श्रद्धा और अटूट विश्वास, उनके अनुयायियों और साथी कार्यकर्त्ताओं में भी, वही आत्मश्रद्धा जाग्रत कर देता है।"

छोटे-छोटे कामों में स्वराज्य-देवता के दर्शन करना नींव के पक्की होने की सुखद चेतना को प्रदान करता है—पोटेन्सी का कन्फर्मेशन उससे मिलता है; साहस, श्रद्धा और अटूट विश्वास की वृद्धि होती है। मदद के लिये गीता का श्लोक यहाँ भी तैयार रहता है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' विचारों की अनुकूलता और हृदय का प्रेम माँ की तुच्छ भेंट को भी बहुमूल्य बना देता है। माँ की भेंट अपनी भेंट है। अपनी तुच्छता, इम्पोटेन्सी और अक्षमता में ही स्वराज्य-देवता के दर्शन होने लगते हैं। ऐसा विज्ञान यह बन जाता है, जहाँ मूक होएँ वाचाल, पङ्गु चढ़ें गिरिवर गहन !

पङ्गु होना एक विशेषता बन चलती है - राम का बल उन्हें ही

मिलता है। दरिद्रनारायण के सिंहासन पर सुशोभित कर उनकी पूजा की जाती है। राष्ट्र का, विशेष रूप से राम-राज्य का, वह अलङ्कार हैं—सेवा करने का अवसर वह देते हैं। उनकी सेवा कर श्रीमन्तों का जीवन कृतार्थ हो उठता है। शेर और बकरी एक घाट पानी पीने लगते हैं।

राम-राज्य में अमीर और ग़रीब दोनों ही रहेंगे, सेवा-धर्म का पदार्थ-पाठ बन स्नेह-गांठ को पुष्ट करने के लिये। सेवा का प्रेम कुम्भी की तरह जहाँ-तहाँ उग नहीं जाता है, उसे पाना होता है। सत्य के विशाल वृक्ष में फूलों का अन्त फिर नहीं रहता—सेवा के अवसर बराबर हाथ आते रहते हैं।

प्रासादों को तोड़ कर नहीं, गरीबों के लिये नयी, छोटी-छोटी, झोंपड़िएँ बना कर वृद्धि का नियम आगे बढ़ता है। स्थान की तङ्गी होने पर वृद्धि के नियम को देख कर धरती माता की गोद अपने-आप फैल जाती है। अन्यथा होने पर संयम का पदार्थ-पाठ श्रीमन्तों के प्रति बलात्कार के पाप से रक्षा करता है। कष्ट-सहन-द्वारा फिर हृदय परिवर्तन होता है। भट्टी में तप कर दरिद्रनारायण और भी निखर आते हैं।

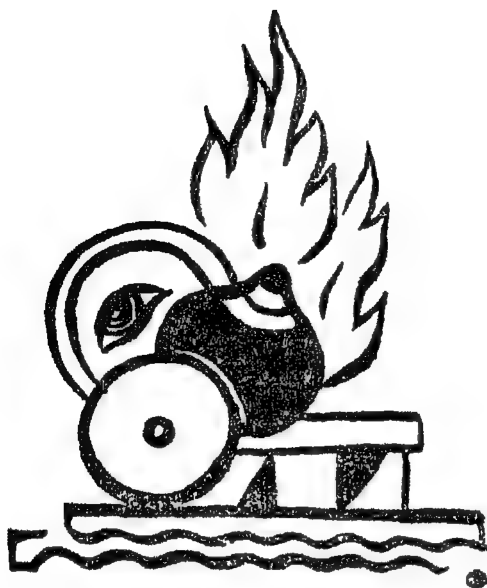
सम्पूर्ण मानव-जाति एक परिवार है। सब का स्थान उसमें बराबर है—न कोई छोटा, न कोई बड़ा, सभी उत्कर्षोन्मुखी। असन्तोष यों चलता ही रहता है। दुराग्रही सन्तान को पहले समझाया जाता है, नहीं समझे तो निभाया जाता है। बहुत महत्त्व की बात हो तो नैतिक दबाव डाला जाता है—सम्पूर्ण परिवार की ओर से। पञ्च का प्रयोग भी काम आता है। शुद्ध बुद्धि और ऊँची भावनाओं से शरमाया भी जाता है। अनेक प्रकार के सत्याग्रह-प्रयोग करने होते हैं—बड़ों के साथ भी, छोटों के साथ भी। त्रीहट, बालहट-आदि शब्द दुराग्रह वाचक समझे जाते हैं, लेकिन वह सत्याग्रही प्रयोग भी हो सकते हैं।

दूसरी विभिन्नता सामने आती है । सम्पत्ति और उत्तराधिकार विषयक कानूनों ने सब से बड़े लड़कों का एक वर्ग तय्यार किया— नौजवानों का, ऐशो-आराम में रत, साम्राज्य-निर्माण के लिये कटिबद्ध । पूञ्जीवाद के यह कारगर एजेण्ट बने । छुटभइयों का दूसरा दल बना । वर्ग-संघर्ष की ज़मीन तैयार हो गई । छुटभइयों को थोड़ा-बहुत दे-दिला कर चुप करने की सीमा आ पहुँची है —विस्फोट होना अनिवार्य ।

भारतीय संस्कृति का पदार्थ-पाठ फिर पेश होता है—बग़ावत को स्थगित करने के लिए श्रेष्ठ साधन के रूप में । भोगलोलुपता के स्थान पर संयम, अधिकारों के आग्रह के स्थान पर कर्त्तव्य की प्रेरणा, ताक़त के स्थान पर प्रेम की भावनाओं से जो ओतप्रोत है, वहाँ फूट नहीं पड़ सकती । तुलना सामने आती है—पश्चिम के समाजवाद ने ताना-शाहों को जन्म दिया, गांधीवाद ने सांगली के ठाकुर, ढसा के दरबार गोपालदास देसाई और कालाकाङ्कर के राजा को !

वृद्धि का नियम आगे बढ़ता है—निर्बल के बल और सेवा के मर्म को लेकर । सिद्धान्त सामने आता है, "बिना आत्मशुद्धि के प्राणी मात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता ।" आगे चल कर व्याख्या और भी स्पष्ट हो चलती है, "शुद्धि का मतलब है मन से, वचन से, कर्म से, निर्विकार होना ।" राग-द्वेष से रहित होने के लिये प्रतिपल प्रयत्न करते हुये ऊँचे शिखर की झाँकी सामने आती है । वृद्धि का नियम पूर्ण रूपेण विकसित हो उठता है, 'मैं जानता हूँ कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है । इसके लिये मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा ।"





अन्तिम स्पर्श

यात्रा कठिन, नाव कमज़ोर, समुद्र तूफ़ानी, आकाश मेघाच्छादित, चारों ओर कुहरा और केवट नौसिखुवा। केवल एक बात हमारे बचाव की थी, हमारा पथ-प्रदर्शक अपना मार्ग जानता था। वृद्धि के नियम के सहारे सन्नमता को बटोर कर वह आगे बढ़ रहा था। आन्तरिक ज्योति की किरण के प्रकाश में मार्ग दिखाई पड़ता, अगले क़दम के लिए गुञ्जायश निकलती, स्वराज्य-देवता हाथ की मुट्ठी में आ जाता।

वृद्धि के नियम की उज्ज्वलता और उसकी सन्नमता की पुष्टि को

भ्रष्ट स्पर्श से बचाने के लिये दीवारें और भी ऊँची हो उठतीं, लेकिन काली छाया फिर भी साथ नहीं छोड़ती। निरन्तर सतर्क रहने पर भी भ्रष्टता प्रवेश पा जाती है। शर्तें बेकार जाती हैं, उनका पालन नहीं हो पाता। पोटेन्सी स्खलित होकर व्यङ्ग बन चलती है। विरोधी तर्क फिर सामने आता है, "शर्तें ही ऐसी थीं कि उनका पालन नहीं हो सकता। गांधी जी को पहले से सोच-समझ कर शर्तें पेश करना थीं।"

बात माकूल है। गांधी जी स्वीकार करते हैं, "I had no such prevision in me." अगले ही क्षण यह स्वीकारोक्ति फिर पहलू बदलती है, पदार्थ-पाठ बन चलती है, "मैंने जो कुछ किया, वह मेरे लिये भी एक प्रयोग ही था। इसीलिये मैं शर्तों को डागमैटाइज़ नहीं कर सका।" सर्व साधारण के आकर्षण का साधन बन कर वह रह गई, "my conditions were meant to be a measure of popular response."

पोटेन्सी के स्खलन की दुःखद चेतना कुछ संभल चलती है। पाँव-तले की ज़मीन के स्पर्श को महसूस कर वृद्धि का नियम उत्कर्षोन्मुखी हो उठता है। दोष प्रयोग में नहीं, शर्तों के और अधिक कड़ा नहीं हो सकने में है। इसी वजह से ढिलाई हुई और भ्रष्टता प्रवेश पा गई। शर्तों को और भी कड़ा करने की योजनाएँ पेश की जाने लगीं। आत्म-संयम और नियंत्रण पदार्थ-पाठ बन कर सामने आये। विचारों की अव्यक्त, अछूती पोटेन्सी—silent prayer of the heart—की विभिन्नता पेश हुई। सिवाय अपने और सब के मुँह काले दिखने लगे!

काले मुँह गांधी जी के, वृद्धि के नियम के, जीवन का आधार हैं। उन्हें सामने रख कर वृद्धि का नियम उत्कर्षोन्मुखी हो उठता है।

अल्पात्मा को नापने के लिये सत्य का माप-दण्ड कभी छोटा नहीं होता। पोटेन्सी की पुष्टि का अवसर वह देते हैं। उनके सुधार की भावना पोटेन्सी की सार्थकता सिद्ध करती है। रचनात्मक कार्य करने की क्षमता का सन्तोष हृदय में साहस का सञ्चार करता है।

सत्याग्रह की विफलता से जहाँ गांधी जी के हृदय को दुःख पहुँचता है, वहाँ आश्रम में नैतिक पतन का समाचार वज्राघात सिद्ध होता है। परमात्मा को धन्यवाद देते हैं, यह जान कर कि पतन की क्रिया सार्टीफिकेट नहीं छोड़ गई है—पोटेन्सी का वह प्रदर्शन व्यर्थ गया है। सब से पहला प्रश्न वह यही जानने के लिये करते हैं, "गर्भ तो नहीं रह गया?" नकारात्मक उत्तर मिलने पर सन्तोष का सांस लेते हैं, "ईश्वर ने बड़ी दया की।"

सुधार-वृत्ति की व्यर्थता को इस घटना ने उभार कर रख दिया। पोटेन्सी पर आघात पहुँचा। इसके लिये गांधी जी तय्यार नहीं थे। बुरी तरह विचलित हो उठते हैं। रात भर नींद नहीं आती। सोचते हैं, लड़कियों में ऐसा क्या कर दिया जाए जो पोटेन्सी के स्खलित होने की सम्भावना न रहे। सुबह होते रास्ता निकल आता है। लड़कियों को बुला कर उनके सुन्दर बाल काट डालते हैं। पोटेन्सी आश्वस्त हो उठती है। सहज विश्वास सामने आता है, "अब ऐसा नहीं होगा!"

स्वराज्य-देवता के दर्शन कर वृद्धि का नियम आगे बढ़ता है। सत्याग्रह के अनेक प्रयोग गांधी जी ने किए हैं, लेकिन इस कला की पराकाष्ठा केवल एक प्रयोग में हुई है। गांधी जी के एक मित्र थे—पारसी व्यापारी। बड़े ही ईमान्दार, सच्चरित्र, निर्मल और गांधी जी के अभिन्न हृदय। आदर के साथ गांधी जी उन्हें देखते थे। लेकिन एक आदत उन्हें बुरी थी—चुंगी की चोरी किया करते थे। गांधी जी को

इसका पता चला चोरी के पकड़े जाने पर। खुद पारसी मित्र ने आकर बताया, इस सङ्कट से उबारने की प्रार्थना की, पेटेन्सी की सार्थकता महसूस करने का सुवर्ण अवसर गांधी जी को दिया। पारसी मित्र को बचाने के लिये गांधी जी ज़मीन-आस्मान एक कर देते हैं—सभी कलाओं का प्रयोग करते हैं। याद नहीं पड़ता, इतनी संलग्नता गांधी जी ने किसी और प्रसङ्ग पर, किसी और के लिये, दिखाई है। अन्त में पारसी मित्र इस प्रसङ्ग को चौखटे में जड़ा कर अपने आफ़िस में लटका लेते हैं। 'एक दाम' और 'उधार लेना वर्जित' की तख्तियों के साथ वह स्थान पाती है—अपने से अधिक औरों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये। गांधी जी इस कार्य से बहुत सन्तुष्ट होते हैं—लड़कियों के बाल काटने से कहीं अधिक!

गांधी जी में सुधारक बहुत पहले ही जाग गया था—इतना पहले कि कह सकते हैं, माँ के पेट से ही वह सुधारक बन कर आए हैं। औरों का बचपन जहाँ खेल-कूद, शैतानी और तोड़-फोड़ में बीतता है, वहाँ गांधी जी ने बिगड़ी को बनाना शुरू कर दिया था। सुधारक ने बचपन को तोप लिया था—he was badly inhibited in his childhood activities. खेल-कूद में ही नहीं, बचपन की शिक्षा-दीक्षा का क्रम भी कुण्ठित रूप में सामने आता है। लाइन में वह कहीं भी खड़े नहीं हो पाते। झेंप और सङ्कोच एक मात्र साथी रह जाते हैं। इसकी पूर्ति करते हैं वह बचपन के बिगाड़ को सुधारने की क्रियाओं से। जिस दौर में लोगों को लंगोटी का होश नहीं रहता, गांधी जी धोती संभालना सीख जाते हैं। दूसरों की नग्नता धोती के सामने और भी उभर आती है। गांधी जी सन्तोष का अनुभव करते हैं।

विलायत गांधी जी जाते हैं। वातावरण के अनुकूल अपने को बनाने का प्रयत्न करते हैं—नाच भी सीखते हैं और वायलीन बजाना भी। यही उपाय उनके सामने आते हैं। लेकिन बात बनती नहीं। वायलीन और नाच साथ नहीं देते। इस तरह की सामग्री जुटाने की ओर झुकते हैं, लेकिन फिर भी ओछे पड़ते हैं। आख़िर जीवन का पहला महान त्याग करते हैं—नाच सीखना छोड़ते हैं, वायलीन से भी पीछा छुटाते हैं। सिद्धान्त सामने आता है, "बाबा जी की लंगोटी वाला क़िस्सा हुआ। लंगोटी को चूहों से बचाने के लिए बिल्ली, बिल्ली के लिए बकरी—इस तरह बाबा जी का परिवार बढ़ा।"

छुटकारा पाते हैं लंगोटी को तिलाञ्जलि देकर। वातावरण से एडजस्ट करने के यह प्रयोग विफल जाते हैं। सन्तोष का सांस लेते हैं घर लौटने पर—भाई के बच्चों का साथ रुचा, उनके साथ अपनापन महसूस किया। उनके संसर्ग में आकर दुखद चेतना ग़ायब हो गई। लड़कों का शिक्षक बन सकने की सामर्थ्य ने और भी सहारा दिया। पोटेन्सी का समर्थन सामने आया, "लड़कों के शिक्षक का काम मैं अच्छा कर सकता हूँ।"

गांधी जी लाराडन जाते हैं—गोलमेज़-कान्फरेन्स में। कान्फरेन्स में वह शामिल होते हैं, लेकिन उससे भी बड़ी कान्फरेन्स होती है मुरिएल लोस्टर के यहाँ, बच्चों के साथ। विदा होते समय अन्य सदस्य जहाँ स्कीमों और योजनाओं की चर्चा करते हैं, वहाँ गांधी जी बच्चों से मिले उपहारों, खिलौनों के बारे में पूछते हैं, 'सुरक्षित तो हैं न ?" भारत में आने के बाद भी पहला राजनीतिक काम जो वह करते हैं, वह है उन बच्चों को पत्र लिखना—चचा गांधी की उन्हें याद दिलाना !

बच्चों का साथ गांधी जी को बहुत रुचता है। शिक्षक और बापू के रूप में वह उनके साथ रह सकते हैं। उनके झगड़े-टण्टों को निपटाने में उन्हें विशेष दिक्कत नहीं होती। आसानी से व्यवस्था क़ायम करने में सफल हो जाते हैं—रचनात्मक कार्य का पूरा समर्थन उन्हें मिलता है। स्वराज्य-देवता के दर्शन कर वृद्धि का नियम आगे बढता है।

बैरिस्टर के रूप में गांधी जी जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। पहला मुक़दमा हाथ आता है। अदालत में ससुराल में नवागत बहू जैसी हालत उनकी हो जाती है। सन्तोष मिलता है उस समय जब वह अन्य वकीलों को लाइब्रेरी में झोंके खाते हुए देखते हैं। झुकाव फिर भी होता है शिक्षक बनने की ओर ही—मुक़दमों को पाने से अधिक लड़कों का शिक्षक बनना वह चाहते हैं!

सुधार द्वारा पोटेन्सी का समर्थन पाना गांधी जी के लिए ज़रूरी हो जाता है। अनायास ही, अपने-आप, वह इस ओर झुकते हैं—जैसे उन्हें इसका आबसेशन हो। इस ओर झुकने के लिए वह डेस्परेट हो जाते हैं, न झुकना जैसे उनके लिए घातक होगा। जानते बूझते, मित्र और सगे-सम्बन्धियों के सतर्क करते रहने पर भी, वह इस ओर झुके हैं। ग़लत व्यक्तियों से ग़लत सम्बन्ध उन्होंने स्थापित किए हैं—आग से खेलने की हद तक। मंझले भाई के दोस्त के साथ उनका आगे बढ़ना, उस रसोइये का प्रसंग जो घर में एक बाई को लाकर कुकर्म करता था, बदमाश लड़कों के साथ लड़कियों को नहाने भेजना, उनका साथ-साथ सोना, बिगड़े लड़कों की सोहबत को लेकर उनके सर्वोदय प्रयोग, खुद गांधी जी के शब्दों में ही, नीम के पेड़ में चमेली का फूल लगाने के प्रयोग रहे हैं। फिर भी उन्होंने इन्हें अपनाया है, अपनाते गए हैं—उनसे हाथ खींचना जैसे उनके वश से बाहर

की बात रही है। सहज विश्वास और अटल श्रद्धा के साथ वह आगे बढ़े हैं—अपनी समझ तक को उन्होंने अलग का दिया है, निरे आब-सेशनल रूप में। विफल होने पर आन्तरिक पीड़ा का अनुभव उन्हें हुआ है, जैसे बुराइयों के लिए खुद ही ज़िम्मेदार हों। वस्तुतः है भी ऐसा ही—औरों के सुधार से अधिक अपना सुधार उन्होंने चाहा है। उनकी सुधार-वृत्तियों का उद्देश्य अपनी पोटेन्सी का समर्थन पाना रहा है, सुधार करना नहीं, "सत्याग्रह में विश्वास रखने वाला दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में नहीं पड़ेगा, क्योंकि वह जानता है, दुनिया उन्हीं नियमों से चलती आई है और चलती रहेगी जिन्हें कि परमात्मा ने बना दिया है!"

इस सुधार का एक पहलू और है। गांधी जी की पितृसेवा निरे आबसेशनल रूप में हमारे सामने आती है—जीवन की अति प्रिय सेवा बन कर, जैसे इसके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। लेकिन पिता की मृत्यु से उन्हें इतना गहरा आघात नहीं मिलता, जितना कि माता की मृत्यु से। लगता है, जैसे जीवन के सारे मन्सूबे मिट्टी में मिल गए, जीवन का आधार जाता रहा।

कई कारण इसके हो सकते हैं। सब से साफ़ और समझ में आने वाला है उनका विलायत-प्रवास। माता के वचनों की रक्षा करने के लिए गांधी जी को वहाँ काफ़ी दिक्कतें उठानी पड़ीं। विलायत-प्रवास के सारे प्रयत्न इन वचनों के चारों ओर ही घूमते हैं। लेकिन विलायत से लौटने पर वह माता जी के दर्शन तक नहीं कर पाते—मृत्यु का समाचार उन्हें मिलता है!

आघात, निस्संदेह, गहरा है और हृदय पर स्थायी चोट छोड़ सकता है। यह भी हो सकता है, इस दुःखद घटना ने माता के

फिक्सेशन पूर्ण कर दिया हो। गांधी जी के भावी जीवन की दिशा, सम्पूर्ण क्रियाएँ, अपने अस्तित्व की उपयोगिता और उसका समर्थन— मातृव्रत को स्थापित करने में प्रयत्नशील रहे हैं।

ज़मीन इसकी लेकिन बहुत पहले ही तय्यार हो चुकी थी। माता का प्रभाव उनके हृदय पर गहरा पड़ा था और उनके साथ अभिन्नता वह महसूस करते थे। पिता की सेवा वह खुद माता के हृदय से, माता का स्थान लेकर करते थे। पितृ-सेवा एक साधन के रूप में आती है, एक सुधार-क्रिया—माता को सुरक्षित रखने और जैसे उसे कष्टों से बचाने के लिए। यह क्रिया उन्होंने खुद माता-रूप अख्तियार कर। सेवा का भार खुद अपने ऊपर ले लिया, माता जी का बोझ हल्का हो गया।

प्रत्येक नारी, विशेषकर वह जिसे हम प्रेयसी, प्रेमिका और पत्नी के रूप में लेते हैं, मूलतः और तत्त्वतः, माता ही होती है। गांधी जी का यह कथन जीवन के सत्य को व्यक्त करता है। यह भी सही है कि जब तक हम उसे माता-रूप में स्थापित नहीं करते, गार्हस्थिक शान्ति नहीं मिल सकती, दाम्पत्य-जीवन सुखद और उत्कर्षोन्मुखी नहीं हो सकता। पुरुष के ही नहीं, नारी के जीवन की भी सब से बड़ी सार्थकता उसका माता-रूप है। सम्पन्न पूर्णता पाने के लिये इस रूप का अस्तित्व अनिवार्य है— सुखद जीवन की सब से पहली और सब से महत्वपूर्ण शर्त।

विभिन्न रूपों में यह स्थिति व्यक्त होती है। सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ दिशा इसकी यह है कि पति या प्रेमी अपनी पत्नी या प्रेयसी को माता बनाने में सफलता प्राप्त करे। दोनों में इम्प्रेगनेट और कन्सीव करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। उन्मुक्त निर्वाह इस इच्छा का

हो—निषेधों से दूर, बापू की छाया से अलग हो कर। यह प्राथमिक रचनात्मक विभूति है जो व्यक्ति समाज को दे सकता है। अपनी उपयोगिता और पोटेन्सी का पूरा समर्थन उसे इसमें मिलता है—बचपन का बिगाड़, टूटे खिलोने, सही-सलामत और सजीव रूप में देख कर मानव को अपनी सामर्थ्य का सब से पहला और सबसे ज़रूरी सार्टीफ़िकेट मिलता है।

कहीं-कहीं इसकी पूर्ति होती है खुद बालक बन कर—पति पुत्र बन जाता है और पत्नी माता। अनेक नारी ऐसी मिलेंगी जो काम-जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हैं। पति के प्रति उनके हृदय में प्यार होता है, ममता होती है बीमार पड़ने पर उनकी सेवा में दिन रात एक कर देती हैं, लेकिन उसके काम-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहतीं। मातृत्व की भूख को पूरा करती हैं वह पति या प्रमी को पुत्र बना कर। कतिपय पतियों में भी वह रोग घर कर जाता है। पत्नी के साथ हर तरह का सम्बन्ध रखेंगे, किसी बात की असुविधा उसे नहीं होने देंगे, लेकिन उसके काम-जीवन से अलग रहेंगे। अपनी काम-वृत्ति के निकास के लिए वेश्या की शरण वह ले सकते हैं, पत्नी की नहीं। इसी में जीवन की सार्थकता उन्हें मिलती है।

यहाँ तक नारी अपने नारीत्व का नहीं छोड़ती, पुरुष अपने पुरुषत्व को। अगली स्टेज आती है उन लोगों को लेकर जो नारी-रूप धारण कर लेते हैं—माता से अभिन्नता वह स्थापित करते हैं। मातृत्व की रक्षा वह करते हैं—लेकिन अपने तरीक़े से। काम-जीवन को वह खतरनाक समझते हैं। इस खतरे से वह अपनी माता या उसके प्रोजेक्शन को बचाते हैं उस खतरे को खुद अपने ऊपर लेकर—नारी रूप में।

सवर्गीय आचार, होमोसेक्सुएलिटी, का यहाँ से प्रारम्भ होता है। नारी-रूप धर कर खतरे से भागना अथवा उसके प्रोजेक्शन को बचाने वाले पेसिव रोल अख्तियार करते हैं। इस तरह खतरे को अपने ऊपर लेकर वह अपने जीवन को सार्थक करते हैं - कई तरीकों से। माता के रूप में अपने की कल्पना कर वह समझते हैं, कन्सीव कर रहे हैं। साथ ही अपने पार्टनर को उसकी पोटेन्सी से भी वञ्चित करते हैं—इस लिए कि वह अन्य नारियों से सम्बन्ध करने क़ाबिल ही न रहे। माँ-बहिनों के खतरे का कारण ही इस तरह ग़ायब हो जाता है। मातृत्व की भूख को सार्थकता का सार्टीफिकेट मिल जाता है।

मरदानी औरतों की सृष्टि भी इसी का एक अङ्ग है। प्रत्येक पुरुष प्रतिद्वन्दी के रूप में उनके सामने आता है। उसे परास्त करने में ही उन्हें मुक्ति मिलती है। कुछ और आगे बढ़ कर पुरुषों से किसी तरह का भी सम्बन्ध न रखने वाला टाइप सामने आता है। सवर्गीय आचार में ही उसे मुक्ति, जीवन की सार्थकता, प्राप्त होती है।

यह सब तरीक़े, कमोबेश रूप में, कुछ मात्राओं के अन्तर के साथ, अपने को व्यक्त करते हैं। ग़लत होते हुए भी यह व्यक्ति की सामाजिक उपयोगिता को कुण्ठित नहीं होने देते, उसे सभाल लेते हैं। इन मार्गों के बन्द हो जाने पर, एक अवलम्ब के रूप में, स्वरति, मास्टर्बेशन का नम्बर आता है—कभी-कभी पहले भी आजाता है। सामाजिक उपयोगिता यहाँ आकर कुछ सीमित अवश्य हो जाती है, व्यक्ति एण्टी-सोशल हो जाता है, लेकिन उसकी उपयोगिता फिर भी बनी रहती है—सब्लिमेशन्स और प्रोजेक्शन्स के सहारे वह आगे बढ़ता है। न केवल इतना ही, बल्कि तमाम सब्लीमेशन्स इसी स्टेज से शुरू होते हैं और इनकी सामाजिक उपयोगिता बनाए रखने के

लिए इस दौर का फ्रस्ट्रेशन्स और निषेधों से, बापू की छाया से, दूर रहना ज़रूरी है। दिक़्क़त पैदा होती है इस स्टेज पर आघात पड़ने से। काम-चेतना स्थानान्तरित हो कर दिमाग़ में पहुँच जाती है। यहीं से हिस्टीरिया का दौर शुरू होता है।

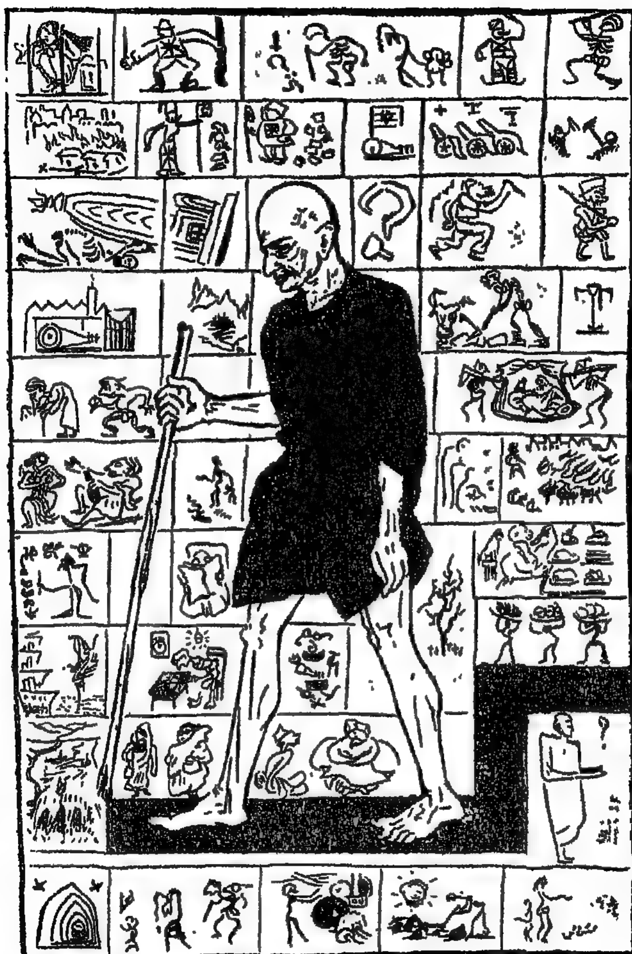
ग़लत या सही इन साधनों के द्वारा व्यक्ति, अपने तरीक़े से, रचनात्मक कार्य का मनोवैज्ञानिक सन्तोष पाता है—बिगड़ी को सुधारता है। इस स्टेज पर पड़ा आघात व्यक्ति की सुधार-वृत्ति पर आघात करता है। सुधार करने का जो उसका विश्वास है, वह डगमगा जाता है। लगता है, दुनिया में वह अब कुछ नहीं कर सकता। संभलने का वह फिर भी प्रयत्न करता है. कुछ कर सकने से पहले अपनी शक्ति-सामर्थ्य, खण्डित विश्वास, को पाना चाहता है। विश्वास को पाने के बाद कड़ी कसौटी पर उसे कसता है—सक्षमता और पोटेन्सी के बारे में पूर्ण रूपेण निश्चित होने के लिये। यह कसौटी, बहुधा, विनाशात्मक रूप अख्तियार कर लेती है। रचनात्मक कार्य का सन्तोष, योजना अथवा भावना, उसके संसर्ग में आकर बिखर जाती है।

आगे चल कर रचनात्मक कार्य की यह प्रवृत्ति और कसौटी, दोनों, पदार्थ-पाठ बन चलती हैं। दोनों ही स्थानान्तरित होकर बाह्य-जगत में फैल जाती हैं और व्यक्ति बाह्य-जगत में स्थापित इनके प्रतीकों को एक-दूसरे से लड़ा कर अपने जीवन को सार्थक करता है।

विश्वास को पाने के लिये, जीवन के लिये, यह ज़रूरी है। छोटे-से-छोटे कामों में भी वह स्वराज्य-देवता के दर्शन करता है। ऑब-सेशनल रूप में यह क्रिया सम्पन्न होती है। वह खुद नहीं जानता कि कहाँ किस रूप में, किस जगह और किस तरह स्वराज्य-देवता के दर्शन हो जाएंगे। जब कभी आन्तरिक ज्योति का प्रकाश अंधकार को भेद

कर आता है, वह खुद भी चमत्कृत हो उठता है। लगता है, नया जन्म अब उसका होने वाला है और उसकी सारी अक्षमता, बिगाड़, अनायास ही दूर हो जायेंगे। जिन की शक्ति उस वक्त उसमें आ जाती है। इस विश्वास के आगे कोई भी बाधा या सतर्कता ठहर नहीं पाती। शक्ति का प्रतीक वह बन जाता है। सम्भव-असम्भव का भेदाभेद उसके सामने नहीं रहता। लेकिन ऑबसेशन के उतर जाने पर, जो उतने ही छोटे और उतने ही अज्ञात कारणों को लेकर होता है, उतनी ही मात्रा में निराशा घेर लेती है। असहायावस्था उसे पङ्गु बना देती है। पहले के सहज विश्वास की पोटेन्सी की स्मृति कुछ सहारा देती है—दोष उसकी अपनी पोटेन्सी में नहीं। कड़ी कसौटी सामने आती है। पोटेन्सी का समर्थन पाना उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। छोटी-छोटी पूर्णताओं में स्वराज्य-देवता के वह दर्शन करता है। साथ चलने वाली शङ्का-सतर्कता इन प्रयोगों का एक क्रम बांध देती है—यहाँ तक कि बार-बार उसी तरह के प्रयोग किये जाते हैं। उद्देश्य होता है इस विश्वास को, नींव को, दृढ़ करना। इसके बाद का काम अपने-आप पूरा हो जाएगा। साधन-साध्य एक हो जाते हैं।

वस्तु-जगत से ऐसे व्यक्ति सम्बन्ध रखते हैं, लेकिन एक हद तक, एक ही रूप में। फ्रस्ट्रेशन और निषेधात्मक आघात का भय खुद उन्हें पङ्गु बना देता है। अपने को वह व्यक्त नहीं कर पाते—न खेल-कूद में, न पढ़ने में, न सामाजिक सम्बन्धों में। सङ्कोच और झेंप, अज्ञात, अस्पष्ट और अतिरञ्जित भय उन्हें अपने में सीमित रहने के लिये मजबूर कर देता है। खुद कुछ नहीं कर पाते। अपनी अक्षमता को स्थानान्तरित कर देते हैं बाह्य-जगत के प्रतीकों में। कुछ अच्छे प्रतीक होते हैं, कुछ बुरे। अच्छे प्रतीकों को साधन बनाते हैं वह बुरे



छोटे-से-छोटे काम में स्वराज्य-देवता
के दर्शन कर वह आगे बढ़ते हैं...!

WITH APOLOGIES TO N. LALL BOSE

प्रतीकों को सुधारने के लिये। अच्छे प्रतीकों की पोटेन्सी को कड़ी कसौटी पर कसा जाता है—सुधार-कार्य, बिगड़े प्रतीकों को बनाने की अनुमति देने से पहले असम्भव शर्तें सामने आती हैं। इसके बाद, खुद अलग रह कर, बापू के स्थान से, उनकी ओर उनके रूप में अपनी पोटेन्सी का समर्थन पाने की क्रिया चलती है।

प्रतीकों के रूप में निर्जीव साधन बन कर जो काम आ सकते हैं, केवल उन्हीं से सम्बंध स्थापित किया जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से अच्छे प्रतीकों का इतना महत्व नहीं होता, जितना कि बुरे प्रतीकों का। बुरे प्रतीकों के सहारे ही अच्छे प्रतीकों की सक्षमता, सार्थकता, व्यक्त होती है। बुरे प्रतीक कसौटी का स्थान प्राप्त कर लेते हैं—बिल्कुल वही, जो कि अच्छे प्रतीकों के काम करने से पहले स्थापित शर्तों का होता है। कसौटी, मूलतः, निषेधात्मक—नियंत्रणात्मक—होती है। उसके संसर्ग का परिणाम, संहार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता—चट्टान से सिर टकराने की तरह, भले ही वह अच्छे प्रतीकों की सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से सामने आए! अच्छे और बुरे प्रतीक, संवार और संहार, विनाश और रचना के प्रतीक बन जाते हैं और उन्हें खिलाने वाला सूत्रधार। बापू का स्थान पाकर ईश्वर का प्रतीक वह बन जाता है—व्यक्तित्व की पूर्ण विजय, उसका चरम विकास। पोटेन्सी का पूरा समर्थन, संतोष, इस तरह वह प्राप्त करता है।

वस्तु-जगत से, इन प्रतीकों के रूप में ही, वह सम्बंध स्थापित करता है। यह सम्बंध उसे अपनी अक्षमता को स्थान्तरित कर उसे आँखो की ओट करने में मदद देता है। इन सम्बंधों को स्थापित करने में बुरे और अच्छे प्रतीकों का श्रेणी-बद्ध विभाजन कर, खुद सूत्रधार बन, उनका प्रयोग करने में अद्भुत दक्षता का वह परिचय देता

है। जीवन की सार्थकता उसे इन्हीं के द्वारा मिलती है, पोटेन्सी का समर्थन उनके सहारे ही वह पाता है। शतरञ्ज के सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी की तरह मुहरों की चाल वह चलता है---दोनों ओर से। उसकी प्रत्येक चाल, प्रत्येक शह, जहाँ तक अपने व्यक्तित्व को स्थापित करने का सम्बन्ध है, मार्के की होती है। अकेला खिलाड़ी वह बन जाता है---संसार का सब से बड़ा चैम्पियन तक। मात देने वाला भी खुद ही, मात खाने वाला भी खुद ही, दोनों ही सूरतें उसके व्यक्तित्व को सार्थक करती हैं--खिलाड़ी-पद उसका सुरक्षित रहता है।

लेकिन पोटेन्सी के इस समर्थन की, हीरो के इस सिंहासन की, जमीन नहीं होती, अक्षमता इससे दूर नहीं होती, न ही खण्डित और फ्रस्टेटेड विश्वास जुड़ पाता है---आँखों की ओट वह अवश्य हो जाता है। पोटेन्सी का यह समर्थन टट्टी का काम देता है। चिन्ता और सतर्कता की ज़मीन पर यह इमारत खड़ी होती है, ढह जाने की आशङ्का बराबर साथ लगी रहती है। वह प्रेरित करती है पोटेन्सी का बार बार समर्थन पाने के लिए, उन्हीं प्रयोगों को बार-बार दोहराने के लिए। पोटेन्सी का समर्थन और आशङ्का, दोनों साथ-साथ चलते हैं, पैरेलल लाइन्स में। न-ही दोनों में किसी एक का संशोधन हो पाता है। दोनों एक-दूसरे के लिए व्यङ्ग बन कर रह जाते हैं।

गांधी जी का सब्लीमेशन सेक्सुएल एनर्जी का, मानव की सचेतन और क्रियाशील शक्तियों का सब्लीमेशन नहीं, फ्रस्ट्रेशन्स का सब्लीमेशन है। पथ-भ्रान्त पथिक सही मार्ग पर आता है, लेकिन टाँगें टूट जाने के बाद, चलने की जब उसमें शक्ति नहीं रहती। न-केवल इतना ही, फ्रस्ट्रेशन उनके लिए पदार्थ-पाठ है। उसके अभाव में मुक्ति नहीं मिल सकती है---सुधार-कार्य का आधार ही गायब हो जाता है।

फ्रस्ट्रेशन को लेकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता—बढ़ने की ज़रूरत भी नहीं होती। पदार्थ-पाठ के बाद कुछ करने के लिए रह भी नहीं जाता। सबक़ से शिक्षा लेना प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है। नहीं लेता तो यह उसका दोष है। गांधी जी अपना काम कर चुके, इसके लिए वह ज़िम्मेदार नहीं।

बात, कभी-कभी, यहीं आई-गई नहीं होती। गांधी जी फ्रस्ट्रेशन को सामने रखकर पोटेन्सी का समर्थन पा सकते हैं; लेकिन सब नहीं। अच्छे-बुरे प्रतीकों के रूप में जिन्हें वह अपना साध बनाते हैं और जो अपने को कठपुतली बनने देते हैं, उन में से कुछ असन्तुष्ट हो जाते हैं—गांधी जी के साथ-साथ स्वराज्य-देवता के दर्शन करने में वह समर्थ नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति भी आ जाती है, जब इस स्थिति को संभालना मुश्किल हो जाता है। बार-बार प्रयोगों का एक ही तरह का प्रारम्भ, फिर एक ही तरह का अन्त, एक ही तरह के कार्य और कारण असन्तोष को घनीभूत करते हैं। वस्तुजगत का सम्बन्ध ओट का साधन न बना कर उसे खण्डित करने वाला हो चलता है।

ऐसी अवस्था असहायावस्था को जन्म देती है। इम्पोटेन्सी नंगे रूप में सामने आ खड़ी होती है। बुरी तरह वह व्यथित हो उठते हैं। पिछले जीवन पर, पोटेन्सी के पहले प्रयोगात्मक समर्थनों पर, नज़र डालते हैं। ब्रह्मचर्य का उन्होंने अखण्ड पालन किया है। सफलता भी इसमें उन्होंने पाई है। पोटेन्सी का इसमें दोष नहीं। उसकी शक्ति तो इतनी है कि सम्पूर्ण दुनिया की भ्रष्टता वह दूर कर सकती है। उसका उपयोग ठीक नहीं हुआ। भौतिक साधनों के स्पर्श में आकर वह भ्रष्ट हो जाती है।

सोचते हैं, साधनों से दूर रहने की। दीवारें ऊँची करने का

ध्यान आता है। विचारों की अव्यक्त अछूती पोटेन्सी का महत्त्व फिर उभर आता है। साधनों को दूर रख कर खुद ही कन्सीव करते हैं—विचारों और भावनाओं के रूप में भ्रष्टता की आशङ्का बराबर साथ रहती है। बुद्धि का संसर्ग भी भावनाओं को भ्रष्ट कर दे सकता है। अनुभवों को रेशनलाइज़ करने से पहले ही उन्हें डिलिवर कर देना चाहते हैं। निर्मल, निर्दोष और सक्षम शिशु, सिद्धान्तों के रूप में, सामने आते हैं।

माता-रूप को इस तरह सार्थक करने पर ही द्वन्द की समाप्ति नहीं हो पाती। आशङ्का फिर सिर उभारती है। शिशुओं की निर्मलता की रक्षा करने के लिए सतर्क हो उठते हैं—इस हद तक कि सत्याग्रह-शिशु का संवारना स्थगित हो जाता है, होना रहता है, ऊँची दीवारों से वह घिर जाता है। सतर्कता के साथ-साथ शङ्का भी घनीभूत होती जाती है, द्वन्द भी बढ़ता जाता है। भ्रष्टता फिर भी सामने खड़ी रहती है। इस बार दोषारोपण खुदा के बन्दों, साधनों, अच्छे-बुरे प्रतीकों पर नहीं, स्वयं खुदा पर होता है, "मेरी सामर्थ्य सीमित है। परमात्मा ने मुझे दुनिया को गाइड करने लायक शक्ति नहीं दी।"

यह स्वीकारोक्ति फिर पहलू बदलती है। अगले ही वाक्य में, "भारत की व्याधियों को दूर करने के लिए परमात्मा ने मुझे अपना साधन बनाया है। अब तक जो सम्पन्न हुआ है, वह हालाँकि महान है, फिर भी बहुत कुछ है जो करना बाक़ी है।"

बाक़ी काम को पूरा करना चाहिए, लेकिन उसमें बाधा आती है। आशङ्का कटु सत्य बन कर सिर उभारती है। जनता का विश्वास अब उनमें कम होता जा रहा है, "And yet I seem to have lost the power to evoke needed response from

Congressmen in general." अत्यधिक दुःख और वेदना के साथ स्वीकार करते हैं, "अवश्य इसमें मेरा ही दोष है— it is a bad carpenter who quarrels with his tools. It is a bad general who blames his men for faulty workmanship."

यह स्वीकारोक्ति फिर पहलू बदल चलती है। गांधियन टेकनीक की चरम सीमा सामने आती है। तबीयत करती है, चुल्लू-भर पानी में जाकर डूब मरें, लेकिन वह भी नसीब नहीं होता। आख़िर सुनाई पड़ता है, "मैं जानता हूँ कि मैं योग्य जनरल हूँ— I know I am not a bad general." यह इस लिए कि यदि ऐसा न होता तो परमात्मा अवश्य ही उन्हें सूचित कर देता। कुछ भी कहने की यहाँ ज़रूरत नहीं रह जाती। अन्तिम फ़िनिशिंग टच देना बाक़ी रह जाता है, "यदि ऐसा होता तो परमात्मा मुझे इस दुनिया से उठा लेता!"